प्रपद्यवाद

सिद्धान्त और साधना

डॉ० विश्वनाथ प्रसाद

तूलिका प्रकाशन, नई दिल्ली

तूलिका प्रकाशन
20/11 वार्ड नं० 1, महरौली, नई दिल्ली-110030

आवरण : शान्ति स्वरूप

मूल्य : 70 रुपये

प्रथम संस्करण 1990
PRAPADYAWAD : SIDHANT AUR SADHANA
(Research) by Dr. Vishwanath Prasad

मुद्रक : अरिहन्त प्रिंटर्स, उल्धनपुर नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

समर्पण

डॉ० शशिशेखर तिवारी
(अध्यक्ष, बिहार विश्वविद्यालय
सेवा आयोग)

डॉ० श्री नारायण भट्ट
(पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग,
अ० प्र० सिंह स्मारक महाविद्यालय,
बरौनी)

के चरणों में, जिनकी स्नेह-साधना
मेरे जीवन की अशेष प्रेरणा रही है।

—विश्वनाथ प्रसाद

पूर्वस्वर

पिछले सौ-डेढ़ सौ वर्षों का काल-खण्ड ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र मे चरम विस्फोट का काल रहा है। मानव समुदाय ने इस अवधि में भौतिक एव सास्कृतिक क्षेत्रो मे उल्लेखनीय उपलब्धिया प्राप्त की हैं। यह मानव-सभ्यता का कायान्तरण-जैसा है। इतने बड़े परिवर्तन का सर्वदिक् परिणाम स्वाभाविक ही था। परिणाम बहुविध हुए। सबसे अधिक स्पष्ट था, तार्किक बुद्धि का जन्म होना। इसके कारण जीवन की वह तन्मयता, जो हमारे निकटवर्ती पूर्वजों को प्राप्त थी, हमसे दूर हो गई। इसके स्थान पर सभ्य मानव के समक्ष एक साथ युद्ध की विभीषिकाए, आर्थिक सामाजिक तनाव, सम्बन्धों का विघटन, एकाकीपन और आत्म निर्वासन-जैसी समस्याए खडी हुईं। यह एक अभूतपूर्व स्थिति थी। सब कुछ अश्रुतपूर्व-से लग रहे थे।

सामाजिक जीवन मे आए इस परिवर्तन का जीवन के अन्य अंगों के समान हिन्दी साहित्य पर भी स्वाभाविक प्रभाव पड़ा। विधा और विषयगत परिवर्तन तो बाह्य हैं, जिस परिवर्तन का एक गुणात्मक महत्त्व है, वह था साहित्य विषयक चिन्तन और अवधारणा मे परिवर्तन। प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र मे साहित्य को अर्थ विषयक अवधारणा मूलतः आनन्द देने वाली वस्तु के रूप मे की गई थी। रस सिद्धान्त इसी बीज धारणा का उदाहरण है। इसके अतिरिक्त अलकार, वक्रोक्ति, रीति और ध्वनि सम्प्रदायो ने इसके अभिव्यंजना-मूलक स्वरूप को ही स्पष्ट किया है। संस्कृत के सुदीर्घ और पारम्परिक चिन्तन में से अधिकांश ने शैली, रीति और अभिव्यजना-पद्धति को गौरव दिया है। कुछ प्रसिद्ध परिभाषाए देखी जाए—

वाक्यं रसात्मकं काव्यम्   (आ० विश्वनाथ : साहित्य-दर्पण)

शब्दार्थयोर्यथावत्सभावेन विद्या साहित्य विद्या

(राजशेखर : काव्य मीमासा)

माहित्यमनयो शोभाशालिता प्रति काव्य सो ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थिति ॥

(कुन्तक : वक्रोक्ति जीवितम्)

ये परिभाषाएं अभिव्यंजना मूलक हैं और इनसे साहित्य के आभ्यंतर तथा उनके हेतु पर प्रकाश नही पडता है। वस्तुत भारतीय साहित्य की रसमूलकता और लोकोत्तर आनन्दवादिता के कारण समाज, साहित्य और साहित्यकार के अन्तरावलम्बन उस स्पष्टता के साथ अभिव्यक्त नही हुए, जिन्हें प्रतीकात्मक और सकेतात्मक अर्थ पर विचार किए बिना समझा जा सके।

साहित्य के अर्थ का आधुनिक भाष्य भी बहुत कुछ इसी प्रकार के अति सरलीकृत व्यामोह की देन है। आधुनिक साहित्य चिन्तको ने साहित्य की परिभाषा तीन आधारो पर निश्चित करने का उपक्रम किया है। वे तीन आधार हैं—(क) उद्देश्य मूलक, (ख) माध्यम मूलक और (ग) ज्ञान तथा ज्ञानागो को वहन करने वाला साधन मूलक। प्रथम की व्याख्या 'सहित' अर्थात् हित की भावना के सहित (सहितस्य भाव. साहित्य) के रूप मे, द्वितीय की पुष्टि शब्द और अर्थ के माध्यम से व्यक्त होने वाली रचना के रूप मे और तृतीय का प्रकाशन सर्वोत्तम विचार की उत्तमोत्तम लिपिबद्ध अभिव्यक्ति के रूप मे की है।

साहित्य और साहित्यकार के उत्तरदायित्व के अध्ययन-द्वारा भी साहित्य के अर्थ विभावन (Conception) को समझने के प्रयत्न हुए हैं। (द्रष्टव्य, विजयदेव नारायण साही की पुस्तक 'साहित्य और साहित्यकार का दायित्व') इस आधार पर साहित्य के निम्न अर्थ सामने आते है—

(i) सामाजिक चेतना जगाने और उसके साथ तादात्म्य स्थापित करने वाली कृति,
(ii) मानवीय चेतना जगाने वाली कृति,
(iii) पारिवारिक चेतना जगाने वाली कृति,
(iv) विश्व दृष्टि (Weltanschauung—वेल्शाग) का निर्माण करने वाली कृति,
(v) वैश्विक चेतना जगाने वाली कृति, तथा
(vi) जातीय-राष्ट्रीय चेतना जगाने वाली कृति।

साहित्यकार के समक्ष प्राय इतने ही ठोस उत्तरदायित्व हैं। इन्ही उद्देश्यो मे साहित्य का अर्थ भी स्पष्ट होता है। हिन्दी के आधुनिक काव्य साहित्य ने उक्त दायित्वो मे से किसी एक को प्रमुख और शेष को गौण या अति गौण मानकर काव्य-साधना की है। आ० महावीर प्रसाद द्विवेदी कालीन साहित्य मे, विशेषत मैथिलीशरण गुप्त के साहित्य मे पारिवारिक चेतना, छायावाद मे वैश्विक एव

जातीय चेतना, प्रगतिवाद में सामाजिक चेतना तथा प्रयोगवाद में मानवीय चेतना प्रमुख हैं। किन्तु, ये सारी बातें बाद में।

स्पष्ट है कि साहित्य की परिभाषाएं अनेक प्रकार से दी जा सकती है। किन्तु, वास्तविक स्थिति यह है कि साहित्य साहित्यकार की कृति है और साहित्यकार समाज का एक सजीव-सचेतन अंगभूत घटक। अस्तु, साहित्यकार और समाज के अन्तरावलम्बन ही साहित्य के मुख्य कारक और उत्प्रेरक हैं। इस अन्तरावलम्बन की स्थिति स्पष्ट करने के लिए दो विचार प्रमुख रूप से सामने लाये जाते है . एक यह कि साहित्य समाज के गुण-दोषो, समस्याओं और विसगतियो को अपनी रचनाओं-द्वारा न केवल अभिव्यक्त करे, अपितु अपने निष्कर्षों-द्वारा वह समाज का उचित मार्गदर्शन भी करे। इस अर्थ मे, साहित्य प्रभावित होने एवं प्रभाव उत्पन्न करने का दुहरा कार्य करता है। दूसरा यह कि साहित्यकार अपनी आत्मानुभूति की ईमानदार अभिव्यक्ति करे और इसी अनुभूति को समाज की प्रेरणा के रूप मे प्रस्तुत करे। इस प्रकार एक का सम्बन्ध समाज के बहिरंग से और दूसरे का अन्तरंग से है।

जीवन के बहिरंग और संगतिया (Association) अ-महत्त्वपूर्ण पक्ष नही है। परन्तु, यह इस बात पर निर्भर करता है कि इस पक्ष का प्रयोग किस तीव्रता और पक्षधरता से हम करते हैं। यदि इसे केन्द्रस्थ विषय समझ लिया जाता है, तब यह व्यवस्था कम-से-कम साहित्य को क्षतिग्रस्त ही करती है। हिन्दी का काव्य साहित्य इस बात का उदाहरण है। आदिकाल से आधुनिक काल तक की काव्य-यात्रा इसकी साक्षी है कि वीरगाथा काल की तुलना मे भक्तिकाल और रीतिकाल की तुलना मे आधुनिक काल के काव्य साहित्य इस कारण श्रेष्ठ हैं कि उनमे गोचर स्थूल के स्थान पर जीवन की गहराई को वर्ण्य विषय बनाया गया है। इसी प्रकार तुलसीदास की अपेक्षा सूरदास, भारतेन्दु और द्विवेदी कालीन साहित्य की तुलना मे छायावादी साहित्य इस कारण श्रेष्ठ है कि उन्होने जीवन के विस्तार के स्थान पर गहराई को स्थान दिया है। पुनः इसी प्रकार पंत की तुलना मे महादेवी, महादेवी की तुलना मे प्रसाद और इन सबमे निराला मे जीवनानुभूतियो की अधिक तीव्रता और गहराई अभिव्यक्त हुई है और उन्होने आपेक्षिक श्रेष्ठता प्राप्त की है। अस्तु, मुख्य विषय जीवन की मात्र अभिव्यक्ति ही नही, उसकी तीव्र और गहरी अभिव्यक्ति भी है।

आधुनिक हिन्दी काव्य साहित्य का अध्ययन उक्त भावभूमि मे करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इसके विकास के विविध चरण वस्तुतः स्थूल से सूक्ष्म की ओर क्रमिक यात्रा है, यद्यपि इसमे एकाध स्थल पर ठहराव-महित प्रकट स्थूलता भी आई है। आधुनिक काल का प्रारम्भ भारतेन्दु से होता है। अद्यतन इसके विभिन्न काव्यवादों का क्रम इस प्रकार है: भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग,

छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नयी कविता। सामान्यतः यह माना जाता है कि भारतेन्दु युगीन कविता प्राचीन और नवीन के सन्धिबिन्दु पर खड़ी होने के कारण न तो प्राचीन और न ही नवीन का ठीक से प्रकाशन कर रही थी। उस काल के काव्य साहित्य का महत्त्व इस बात के लिए है कि उसमे भविष्यत् की आकांक्षाओ के बीज अंकुरित हो रहे थे। द्विवेदी कालीन साहित्य ने अपने युग के अनुकूल, विशेषत. गाधीवादी जीवन-दर्शन के दबाव के कारण, नैतिकता और स्थूलता को अपना मुख्य आधार बनाया। परिणामत' कवि की अनुभूतियो के चित्रण के स्थान पर स्थूल का वर्णन ही उसका मुख्य कवि-कर्म हो गया। स्वानुभूति के लिए छटपटा रहे कवियो के एक वर्ग ने प्रतीकात्मक और लाक्षणिक पद्धति का अवलम्ब ग्रहण कर, आत्मानुभूति को काव्य-रूप मे प्रस्तुत किया, जिसे छायावाद की अभिधा प्राप्त हुई। छायावाद के इस वैशिष्ट्य को अपूर्ण मानकर, कि उसमे स्वानुभूति के नाम पर भावो का सूक्ष्म और अति गंभीर अंकन हो रहा है और जीवित मानव की आकांक्षाओ और आवश्यकताओ को महत्त्वहीन समझा जा रहा है, उस वाद के स्थान पर प्रगतिवाद और प्रयोगवाद का क्रमश' आगमन हुआ। नयी कविता वस्तुत' प्रगतिवाद और प्रयोगवाद की पूरक ही सिद्ध हुई। कविता, अकविता, ताजा कविता, आज की कविता आदि विभिन्न नामधारी काव्यवाद नयी कविता के नामान्तरण मात्र है। उनमे उनके व्यक्तित्व को प्रयोगवाद या नयी कविता से पृथक् करने वाली वैशिष्ट्य रेखाए दिखाई नहीं देती हैं।

अनेक समीक्षको ने प्रगतिवाद और प्रयोगवाद को छायावाद का ही दो शाखाओ मे विभक्त काव्यान्दोलन मानते हुए यह स्पष्ट किया है कि छायावाद द्विवेदी कालीन इतिवृत्तात्मकता के विरुद्ध जिस प्रकार विद्रोह है, उसी प्रकार छायावाद की अतिशय भाव प्रवणता के प्रति प्रगतिवाद और प्रगतिवाद की राजनीतिक-सामाजिक-आर्थिक प्रतिबद्धता के प्रति प्रयोगवाद विद्रोह है। बाह्यतः यह स्थापना सही लगती है, निष्कर्षत' नही। ध्यातव्य है कि ये तीनो वाद इतनी जल्दी-जल्दी एक-दूसरे की पीठ पर आए और गए कि इन तीनो के बीच के वास्तविक पार्थक्य को समझ पाना कठिन बौद्धिक श्रम और धैर्यापेक्षी समालोचना की अपेक्षा रखता है। इन तीनो वादो के पार्थक्य और वैशिष्ट्य को समझने के लिए इन तीन बिन्दुओ पर विचार कर लेना स्वाभाविक-सा है—(क) क्या कोई वस्तु किसी दूसरी वस्तु का विकल्प हो सकती है? (ख) क्या इन वादो ने कोई सर्वथा नवीन दृष्टि और अभिव्यंजना पद्धति विकसित की है? (ग) इन तीनो की पृष्ठ भूमि, विषय, विषय वस्तु तथा काव्यतत्त्वीय स्थितियां क्या है?

यह मौलिक तथ्य है कि कोई व्यक्ति, भाव, विचार, वाद या इस प्रकार की कोई वस्तु किसी अन्य का विकल्प नही बन सकती, क्योकि इनका स्थानान्तरण असम्भव है। स्थानान्तरण और विकल्प, ठोस वस्तुओ मे सम्भव है, भाव एव

विचार-जैसी अमूर्त्त वस्तुओ मे नहीं। 'मिठास' का क्या विकल्प होगा ? इस स्वाद का स्थानान्तरण किस स्वाद मे सम्भव है ? मूलत. भावात्मक और प्रत्यय मूलक वस्तुओं के विकल्प नही होते हैं। काव्य और कला भाव और प्रत्यय-प्रधान होने के कारण सविकल्पात्मक नही होते है। इनका समार आत्मनिष्ठ या अहंता-प्रधान (Subjective) होता है, इदता-प्रधान (Objective) नही। अपने क्षेत्र मे ये स्वय कर्त्ता, कर्म और करण संयुक्त रूप से बन जाते हैं। ऐसी अवस्था मे यह विचारणीय हो जाता है कि कैसे कोई एक वाद किसी दूसरे वाद को स्थानच्युत कर स्वय विराजमान हो सकता है ? आग्रह इस बात के लिए है कि भाव एव प्रत्यय-प्रधान वस्तुएं (रचनाए) अनश्वर होती हैं। इस कारण यह कहा जाना चाहिए कि कोई वाद प्रतिक्रिया स्वरूप जन्म नही लेता है। वह समय की माग और आवश्यकताओ की पूर्ति मात्र करता है। सलग्न कारण है कि तथाकथित स्थानच्युत होने वाला वाद पूर्णत अस्तित्वहीन नही हो जाता है। हिन्दी साहित्य का इतिहास इसका उदाहरण है। वीरगाथाकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल या परवर्ती काव्य प्रवृत्तिया आज भी मिलती हैं। आज भी वीरगाथात्मक रचनाए होती हैं, स्तुतिगान किए और सुने जाते हैं। भक्ति और शृगारपरक रचनाए आज भी होती हैं। आज भी आ० महावीर प्रसाद द्विवेदी की नैतिकता और इतिवृत्तात्मकता के आग्रही साहित्यकार विद्यमान हैं। इस कारण कहना चाहिए कि छायावाद-प्रगतिवाद-प्रयोगवाद न तो विद्रोहात्मक है और न विकल्पात्मक। वस्तुत: इनमे से प्रत्येक ने अपने समय की अपेक्षाओ की पूर्ति मात्र की है।

इन वादों ने वैसी कोई नवीन वस्तु, जिसे आविष्कार और सर्वप्रथम की श्रेणी मे रखा जा सके, नही दी। उदाहरण है छायावाद। इस वाद को भाव एव अभिव्यंजना-क्षेत्र मे विद्रोह माना गया था। क्या वे भाव और अभिव्यजना-पद्धति वस्तुतः नये हैं ? उनके सिद्धान्त और विनियोग सस्कृत वाङ्मय मे कही उपलब्ध नही है क्या ? यदि हा, तो छायावाद विद्रोह है या प्राचीन का पुनरुत्थान ? इस वाद के प्राय: समस्त महत्त्वपूर्ण वैशिष्ट्य सस्कृत काव्य मे प्राप्त होते हैं। यथा, 'प्रकृति का मानवीकरण' जिसे आधार बनाकर कालिदास ने 'मेघदूत' की रचना की थी। सर्वचेतना वाद, आनन्दवाद, शाक्तदर्शन, वेदना की तीव्र अनुभूति आदि के उत्स पौराणिक एवं औपनिषदिक है। रोमांटिसिज्म को पाश्चात्य काव्य का उच्छिष्ट माना गया है। छायावाद मे भावो को वायवीय बना देना तथा अन्योक्ति-परक लाक्षणिक काव्य शैली मे भी नवीनता वाली बात नही है। कबीर और बिहारी के दोहो मे अन्योक्तिपरक शताधिक उदाहरण मिल जाते हैं। भावो को सूक्ष्म और वायवीय बना देना, इसकी जितनी उपलब्धिपूर्ण महान् विशेषता है, उतना ही बडा दोष भी। भावो के सूक्ष्म अकन और चित्रण-द्वारा इस वाद ने भाव (भावपक्ष) और व्यंजना (कलापक्ष) दोनो दृष्टियो से हिन्दी

प्रकार की क्रिया है। इसे हमने आगे योगियों की कृच्छ्र साधना से उपमित किया है। आशय यह है कि प्रपद्यवाद की अहंता-प्रधानता का अर्थ है, अपने व्यक्तित्व-लोक और भावलोक-द्वारा विश्वलोक को देखना और प्रस्तुत करना।

प्रयोगवाद का प्रगतिवाद के प्रति विरोध उसके राजनीतिक-आर्थिक दर्शन मे गहन विश्वास के कारण नही, अपितु उसके प्रति प्रतिबद्धता के कारण है। अर्थ यह हुआ कि प्रगतिवाद का समाजवादी या मार्क्सवादी दर्शन के प्रति श्रद्धा रखना तथा उसके साकार होने की कामना करना—प्रयोगवाद (प्रपद्यवाद) के लिए चिन्ता का विषय नही है। इसकी चिन्ता इस कारण है कि सामाजिक-आर्थिक आदि साहित्येतर विचारधाराओ का उपयोग-क्षेत्र साहित्य नहीं है, जबकि प्रगतिवादियो ने मार्क्सवादी विचार-सरणि साहित्य पर बोझ की तरह लादे हैं। अभाव, शोषण, उत्पीडन आदि के प्रति विरोध व्यक्त करते हुए एव सामाजिक चेतना के विकास-हेतु प्रपद्यवादियो ने भी प्रपद्य रचे हैं। ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है कि इनमे अभिव्यक्त भाव और विचार प्रगतिवादियो की एतत् सदृश्य कविताओ से किसी भी प्रकार कम हैं। अस्तु, इन दोनो का वैषम्य विषय के प्रति नहीं, विषयवस्तु अथवा विषय की धारणा के प्रति है। वैषम्य का एक अन्य कारण इन दोनों के मध्य कला आग्रह को लेकर है। प्रगतिवाद की वस्तुवादिता और प्रयोग-वाद की कलाप्रियता ऐसे ही दो छोर हैं।

इन दोनों वादो के मध्य एक विशेष प्रकार का अन्तर भी सामने आता है। प्रगतिवाद गोचर विश्व मे विश्वास रखता है और विश्वास करता है कि उसे मानव समाज के योग्य बनाना है। गोचर और स्थूल विश्व मात्र मे विश्वास रखने के कारण इस वाद की धारणा है कि इसकी दृष्टि वैज्ञानिक है। इसका यह दावा स्वागत योग्य है। फिर भी, इसमें एक मौलिक अभाव है। हमारी अपनी धारणा है कि विज्ञान से बड़ी विज्ञान-दृष्टि होती है। इन दोनो के अन्तर-पार्थक्य को समझना आवश्यक-सा है। विज्ञान पदार्थ मूलक है। इसकी अवधारणा वस्तु परकता की होती है। विज्ञान-दृष्टि विश्लेषणात्मक होती है और इसकी विश्लेषण-क्रिया क्यो, कैसे और क्या के त्रिरेखीय आयाम से बनती और संचालित होती है। विज्ञान का पूरक विश्वास है। उदाहरणार्थ, हमारे वैज्ञानिको ने सूर्य की उष्मा, उसका व्यास, उसकी माप आदि मापी है। पर, कोई व्यक्ति यह नही पूछता है कि आपने ये कार्य किए कैसे हैं? वैज्ञानिको ने तथ्य प्रस्तुत किया और सामाजिको ने मान लिया। जहां और जिस बिन्दु पर आकर यह विश्वास जिज्ञासा मे बदल जाता है और लोग किसी वस्तु, घटना और हेतु की गहराई मे जाकर उसका विश्लेषण करते हैं, वहीं से विज्ञान-दृष्टि जन्म लेती है। 'क्या, क्यों और कैसे' के त्रिधा विभक्त विश्लेषण सूत्र द्वारा यह भाव, अर्थ, शिल्प, शब्द ध्वनि, विषय और विषय वस्तु को सदैव प्रयोग की प्रक्रिया मे रखता है। इसी कारण इसके लिए कोई

तथ्य वस्तुपरक और पदार्थ मूलक नही, अपितु संभावनाओ का उपादन कारण बन जाता है।

स्पष्ट है कि छायावाद और प्रगतिवाद से प्रपद्यवाद(प्रयोगवाद) अनेक कारणों से भिन्न व्यक्तित्व रखता है। पूर्व पंक्तियो मे सैद्धांतिक भूमिका के आधार पर इस पार्थक्य को समझने की जो चेष्टा हुई है, उससे भिन्न आधार ग्रहण करते हुए यह निवेदन किया जा सकता है कि छायावाद और प्रगतिवाद की तरह प्रपद्यवाद को खण्ड-विभक्त नही किया जा सकता है। डॉ॰ शभुनाथ सिंह ने छायावाद को दो खण्डो मे विभक्त करते हुए 1918 ई॰ से 1930 ई॰ के खण्ड को पूर्वार्द्ध और 1930 ई॰ से 1942 ई॰ के खण्ड को उत्तरार्द्ध माना है। उनके अनुसार पूर्वार्द्ध में छायावाद विकासोन्मुख था और उसमे व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य और विद्रोह की प्रवृत्ति अत्यन्त शक्तिमती, तीव्र, आशामयी और संघटित थी। उसका उत्तरार्द्ध उसकी शक्ति के बिखरने का काल था जिसमें उसने आदर्श का क्रमशः त्याग करते हुए यथार्थ को स्वीकार करना प्रारम्भ किया। (द्रष्टव्य, हिन्दी साहित्य कोश छायावाद)

प्रगतिवाद के भी दो युग और खण्ड हैं। इसका पूर्वार्द्ध 1936 ई॰ के आस-पास का है। इसका उत्तरार्द्ध काल भारतीय स्वातंत्र्योत्तर काल है। इस काल मे इस वाद की स्थिति इतनी शक्तिमती नही रह गई। अपनी मूल राजनीतिक मातृ-संस्था के अनेक खण्डों में विघटन के साथ-साथ यह काव्य आन्दोलन भी अनेक खण्डो मे विभक्त होता चला गया।

प्रयोगवाद का इस रूप में खण्ड-विभाजन नही हुआ, यदि हम प्रपद्यवाद की इस धारणा को मान लेते हैं कि वास्तविक प्रयोगवादी वे ही हैं और जिन्हे हिन्दी के आलोचको एवं साहित्येतिहासकारो ने अब तक प्रयोगवादी मान रखा है, वे श्री अज्ञेय और तार सप्तक के कवि प्रयोगशील हैं। प्रपद्यवाद की इस मान्यता को स्वीकार नहीं करने वालो के लिए इस वाद की दो धाराए सिद्ध होती हैं—प्रयोग-वाद और प्रपद्यवाद। परन्तु अब यह सिद्ध हो चुका है कि प्रयोगवाद नामग्रहण करने का वास्तविक अधिकारी प्रपद्यवाद ही है।

उक्त तीनो वादो के समन्वित अध्ययन का निष्कर्ष यह है कि छायावाद और प्रयोगवाद दो सीमान्त आग्रहो से आवेष्टित काव्यवाद है। छायावाद की सीमातीत-वायवीयता और प्रगतिवाद की सीमातीत यथार्थवादिता एवं मानवीय स्वतन्त्रता का अपहरण-आहरण उन्हे आवश्यक लगा, जिन्हें मानव और मानवता मे गहन आस्था है, जिनकी दृष्टि मे काव्य का अर्थ भावो का कोमल अंकन और चित्रण रहा है तथा जिन्होंने यह अनुभव किया है कि भाव और व्यंजना के संयुक्त प्रयास से ही मान और मानवता की रक्षा संभव है। जिनके लिए काव्य न तो गहन दर्शन है, न ठोस यथार्थ और न राजनीति का पाश, प्रत्युत जिनके लिए

मानव सत्ता एकमात्र और सर्वोपरि है तथा जिसके लिए चरम काम्य जीवित मानव की, उसकी सम्पूर्णता और समस्त रागतियों-समेत रक्षा का है ।

प्रयोगवाद का आगमन इसी काव्य परिदृश्य में हुआ है जिसके पुरोधा अज्ञेय जी बने और 'तार सप्तक' में रचनाएं इसी सिद्धान्त-भूमि पर संकलित की गईं। इस वाद की सैद्धांतिक अवधारणा का आधार प्रयोग माना गया। इसके समर्थन में यह तर्क दिया गया कि कवि परम्परागत रूढ़ि को त्यागकर नये स्तर पर रागात्मक सम्बन्धों को ढूंढे, क्योंकि आज की कविता की भाषा और विषय इतने अभिधापूर्ण हो गए हैं कि इसकी प्रेषणीयता ही समाप्त हो चुकी है। इसके पीछे दो स्पष्ट कारण थे—प्रथम, छायावाद ने अपने शब्दाडम्बर से भाषा और बिम्बों के गतिशील तत्वों को नष्ट कर दिया था। द्वितीय, प्रगतिवाद ने सामाजिकता एवं यथार्थवादिता के नाम पर भावों तथा शब्द-संस्कार को अभिधात्मक बना दिया था। अतः यह अनुभव किया गया कि सारे मानवीय एवं सामाजिक सम्बन्धों की ईमानदार व्याख्या करने के उपरान्त भी, कवि यह अनुभव करता है कि मनुष्य की मूल्यवत्ता के कुछ ऐसे स्तर हैं जो ठीक-ठीक पकड़ में नहीं आ रहे हैं। इसके लिए रचनाकार और पाठक दोनों को धैर्यपूर्वक उस मूल्य की प्राप्ति के लिए नये-नये प्रयोग करते रहने होंगे। इसे इस रूप में समझा जाना चाहिए कि उस मूल्य को प्राप्त करने के लिए द्रष्टा को अपनी स्थिति तथा दृष्टि में परिवर्तन लाते रहना चाहिए एवं नये सम्प्रत्यय अथवा सगति में वस्तु को देखने का यत्न करना चाहिए।

इस वाद ने प्रयोग के सिद्धान्त की बड़ी मार्मिक व्याख्या की जिसका प्रस्थान-बिन्दु इस बात में निहित है कि प्रयोग की प्रकृति में यह तथ्य निहित है कि किसी भी वस्तु की मान्य प्रकृति (accepted nature) का ज्ञान प्रयोग द्वारा पुन प्राप्त किया जा सकता है और नई उपलब्धियां प्राप्त की जा सकती हैं। (द्रष्टव्य, हिन्दी साहित्यकोश प्रयोगवाद) इसी मौलिक सैद्धान्तिक अवधारणा के कारण इस वाद को प्रयोगवाद माना गया। किन्तु, अज्ञेय जी और उनके प्रभामण्डल के सप्तकीय कवि प्रयोगजन्य इस सैद्धान्तिक आग्रह के प्रति सचेष्ट नहीं रहे और उन्होंने अपने सम र्थन में यह कहा कि उनके लिए प्रयोग साध्य नहीं है, अपितु उनका आग्रह इस बात के लिए है कि प्रयोग के माध्यम से ही आज की जटिल एवं अस्त-व्यस्त संवेदना की अभिव्यक्ति हो सकती है। अज्ञेय जी के इस कथन से यह बात स्पष्ट हो गई कि वे प्रयोगवादी नहीं, प्रयोगशील थे। प्रयोगशीलता के सम्बन्ध में अज्ञेय जी के शब्द हैं· "जो व्यक्ति का अनुभव है, उसे समष्टि तक कैसे उसकी सम्पूर्णता में पहुंचाया जाय, यही पहली समस्या है जो प्रयोगशीलता को ललकारती है, क्योंकि कवि यह अनुभव करता है कि अब भाषा का पुराना व्यापकत्व नहीं है।" यह एक विचित्र स्थिति थी। ऐसी ही स्थिति में प्रयोगवाद की रक्षा के निमित्त, प्रयोग को अपना साध्य स्वीकार कर, बिहार के तीन कवियों—नलिन विलोचन शर्मा,

केसरी कुमार और नरेश—ने स्वयं को वास्तविक प्रयोगवादी घोषित करते हुए, नये काव्यवाद 'प्रपद्यवाद' की स्थापना की तथा तथाकथित प्रयोगवाद से पृथक् पहचान के लिए अपने नामो के आद्याक्षरो से निर्मित 'नकेन'—वाद नाम धारण किया। यह गहरे चिन्तन की बात है कि अज्ञेय जी के द्वारा बार-बार स्वयं को प्रयोगशील कवि घोषित करने और प्रपद्यवादियो द्वारा प्रयोग को साध्य रूप मे स्वीकार करने के बाद भी, किस अज्ञात प्रेरणा से समीक्षकों ने प्रयोगशीलो को ही वास्तविक प्रयोगवादी मान लिया ! इसके पूर्व हिन्दी साहित्य मे कालो के नामकरण पर विवाद होते रहे हैं। किसी काल विशेष (भक्ति काल) की उत्पत्ति के कारणो पर सविस्तार विश्लेषण भी हुए हैं। यह प्रश्न भी आता रहा है कि किसी काल विशेष की मूल प्रवृत्ति क्या थी ? कभी-कभी किसी काल विशेष के विभिन्न कवियो को प्रवृत्ति मूलकता की दृष्टि से किस काव्य-कोटि मे रखा जाय, जैसी समस्या भी आई है। परन्तु, प्रयोगवाद की समस्या सर्वथा अपने ढग की है। कदाचित् साहित्य-क्षेत्र मे ऐसी समस्या अश्रुतपूर्व ही मानी जायगी कि कोई कवि या कवि समूह जिस नाम को स्वीकार करना नही चाहता, आलोचक उसे वही नाम देना चाहते हैं और जो वैसा नाम चाहते है, उसके निमित्त आवश्यक योग्यताए रखने के बाद भी, वह नाम उन्हे नही दिया जाता है।

इस वाद ने परिस्थिति जन्य वाह्य अथवा तात्कालिक कारण (अज्ञेय जी की प्रयोग शीलता का आग्रह) के कारण मात्र से ही अपनी पृथक् उपस्थिति का बोध नही कराया, अपितु इसने प्रपद्यवाद को दार्शनिक प्रपत्तियो को प्रपद्य द्वादश सूत्र के रूप में उपस्थित भी किया। हिन्दी का लक्षण निरूपण काव्य अवश्य इसका अपवाद है। फिर भी, रीतिकाल मे इस प्रकार की पद्धति का सीमित और रूढ़ उपयोग हुआ है। न्यूनाधिक्य रूप मे हिन्दी के कई काव्यवादो ने अपनी वैचारिक-सैद्धान्तिक स्थितिया प्रस्तुत की है। इस कारण प्रपद्य द्वादश सूत्र परम्परा-निर्वाह ही करता है। परन्तु, इस प्रकार का आकलन प्रपद्य द्वादश सूत्र का अवमूल्यन करता है। वास्तविकता यह है कि द्वादश सूत्र हिन्दी काव्य साहित्य की प्रौढता को द्योतित करता है। साथ ही यहां एक संलग्न प्रश्नाभास भी है कि क्या सूत्र बनाकर काव्य रचना संभव है ? क्या इससे प्रयोग की वास्तविकता की रक्षा संभव हो पायी है ? हिन्दी काव्य साहित्य की प्रौढता की बात का आग्रह इस कारण है कि द्वादश सूत्र भाव और कल्पना-लोक मे घूमने और उसके आधार पर काव्यरचना की जो अशेष स्वतन्त्रता थी, उसे बदल डालता है। यह स्वतन्त्रता सर्वतन्त्र स्वतन्त्रता से सम्पूर्णत: भिन्न अर्थ और प्रकृति वाली वस्तु थी, जिसे प्रपद्यवाद ने एक निश्चित आकार और चौहद्दी दी। प्रश्नाभास के माध्यम मे जिस आशका को उठाया गया है, उसका समाधान यह है कि 'प्रयोग' के लिए यह बहुत आवश्यक है कि प्रयोग-कर्त्ता किसी विषय और स्थिति को अन्तिम और पूर्ण नही माने। किसी भी वस्तु

और स्थिति को बार-बार प्रयोग द्वारा मांजा जा सकता है। आग्रह इस बात के लिए है कि अन्य कार्यों के समान ही, काव्यरचना की एक सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि रहनी आवश्यक है। कोई प्रयोग क्यो करे ? उसकी दशा और दिशा क्या हो ? प्रयोगकाल मे वह अपने औजारों (शब्द, अर्थ, भाव और बिम्ब आदि) को किस अर्थ और परिभाषा मे लेता है तथा इनका प्रयोग किस प्रक्रियान्तर्गत करता है—ये कुछ ऐसी बातें हैं, जिनकी आधार भूमि की निर्मिति और सम्पुष्टि सूत्रों के माध्यम से होती है। शब्दान्तर से, प्रपद्य द्वादश सूत्र इस वाद का हेतु है।

यद्यपि द्वादश सूत्र प्रपद्यवादियो ने अपने वाद के सैद्धान्तिक स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए उपस्थित किया था, तथापि इसमें संगुफित सूत्र काव्य सम्बन्धी एक समग्र दृष्टि देते हैं। इन्हे हम नव्य काव्यशास्त्र भी कह सकते हैं, इस सावधानी के साथ कि ये ठीक उसी रूप मे काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त सूत्र नही हैं जिस रूप मे आ० विश्वनाथ और आ० मम्मट आदि के सिद्धान्त हैं। इन आचार्यों के सिद्धान्त सूत्रो की भांति प्रपद्य द्वादश सूत्र काव्य, काव्य तत्त्व, काव्यांग, और काव्य घटक की व्याख्या नही करता, और न ही साम्प्रदायिक आचार्यों की भांति काव्य की आत्मा का अनुसन्धान ही करता है। इसकी मौलिकता इस बात मे निहित है कि यह काव्य, अभिव्यंजना और भाव के सतुलन, शब्द की स्थिति, काव्य-कवि-समाज का अन्तरावलम्बन एव काव्य मे बौद्धिकता तथा उसमे नित्य नये प्रयोग की आवश्यकता आदि पर गहरे विचार प्रस्तुत करता है। यह वाद इस बात को बड़े आग्रहपूर्वक उठाता है कि काव्य भावो के उत्कृष्ट केन्द्रण के कारण गद्य से अलग होता है। यह काव्यात्मा का इसका आधुनिक भाष्य है। इसे यह बार-बार कहना चाहता है कि इसी उत्कृष्ट केन्द्रण के कारण कविता आधुनिक युग (गद्य युग) मे गद्य से पराजित नही हो पाती है। यह वाद अपेक्षा करता है कि हिन्दी कविता को अपने मे वयस्क बुद्धि लानी होगी और तभी वह युग की मेधा को अपनी ओर खीच सकती है। उसे अपने पुराने हृदयरोग से मुक्त होना होगा। एतत् सदृश्य दशाधिक मौलिक स्थापनाएं इस वाद को प्रयोगशील एव अन्य पूर्ववर्ती कवियो से पृथक् एव स्वतन्त्र स्थान देती हैं। साथ ही, काव्यरचना और काव्य की आशंसा के विशिष्ट आधार भी प्रदान करती हैं।

अब तक हमने प्रपद्यवाद का ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया है। अब यह देखना स्वाभाविक होगा कि इस वाद की वास्तविक सैद्धान्तिक भूमिका क्या है ? यह कहना सर्वथा समीचीन होगा कि 'प्रयोग को साध्य माना जाना' इस वाद की वास्तविक सैद्धान्तिक भूमिका है, यही इसका केन्द्रस्थ बिन्दु है। स्वायत्तवादी हुए बिना प्रयोगवादी नहीं बना जा सकता है। अस्तु, इस वाद की केन्द्रीयता का भी मूल केन्द्र है : कविता की स्वायत्तता। कवि-कर्म समूह से प्रेरणा अथवा समूह को प्रेरणा देने का कर्म है या कवि की स्वानुभूति का ? पहले इस रूप मे संश्लिष्ट

हो जाने का कि उसमे जगत् भर की अनुभूतियां सिमट आएं और फिर बाद मे स्वानुभूति की अभिव्यक्ति का इस रूप मे होना कि कवि-द्वारा प्रयुक्त प्रत्येक शब्द और भाव सम्पूर्ण जगत् के हो जाएँ ? प्रश्न का समाधान पाने के लिए हम वर्तमान काल की तीन अतिमुख्य विचारधाराओ को देखना चाहेगे। वे है—(क) समाजशास्त्रीय सापेक्षवाद, (ख) विकासवाद और (ग) इतिहास की सनातनतावादी व्याख्या। इनके माध्यम से व्यक्ति, समाज और परिस्थिति की वास्तविक स्थिति का ज्ञान सभव हो सकेगा।

इस निमित्त प्रथम विषय के रूप मे समाजशास्त्रीय विकासवाद (Sociological relativism)। यह वाद सत्य की सार्वजनीनता और सार्वकालिकता मे विश्वास नही करता है। इसकी व्याख्या हर्षनारायण निम्न शब्दो मे करते हैं: यह एक मानी हुई बात है कि जीवन उतना और वैसा ही नही है, जितना और जैसा समाज विशेष अथवा युग विशेष द्वारा जाना गया है। प्रत्येक समाज अथवा युग उसके पक्ष विशेष का ही साक्षात्कार कर पाता है; यद्यपि प्राय समाज अथवा युग अपने को पूर्ण जीवन-दृष्टि-सम्पन्न सिद्ध करने का दावा करते पाये जाते है। समाज दर्शन इन विभिन्न जीवन दृष्टियों को सापेक्ष सत्य सिद्ध करता है। उसके अनुसार दर्शन और धर्म, साहित्य और कला, कानून और नीति-नियम, राजनीति और अर्थनीति प्रभृति विविध सामाजिक, सास्कृतिक सस्थाए एव प्रवृत्तियां, नित्य सार्वजनीन और सार्वकालिक न होकर समाजानुसारी अथवा युगानुसारी होती हैं। वे भिन्न समाजो अथवा युगो मे भिन्न हो जाने को बाध्य हैं। किन्ही दो समाजो अथवा युगो मे ये सस्थाए और प्रवृत्तियां एक-सी नही होती। (हिन्दी साहित्य कोश : समाजशास्त्रीय सापेक्षवाद)

इसके उपरान्त द्वितीय विषय के रूप मे विकासवाद के अध्ययन की स्थिति आती है। यह सिद्धान्त समाज और जगत् के स्थिर होने के प्रति अविश्वास प्रकट करता है तथा सृष्टि की अनवरत गतिशीलता तथा प्रक्रियान्तर्गत विकसित होती जा रही व्यवस्था को स्वीकार करता है। इस सिद्धान्त से प्रभावित होकर मनुष्य को यह विचार त्याग देना पड़ा है कि समाज और जगत् स्थिर हैं। परिवर्तन, विकास, परिवर्द्धन और उन्नति उसके जीवन-सूत्र बन गए हैं। मानवता का दृष्टिकोण लोकपरक और ऐहिक हो गया है। मनुष्य अब अपने को सृष्टि का केन्द्र और सर्वोच्च शिखर न मानकर इतर प्राणियो की भाति एक पशुजाति मानने लगा है। मनुष्य की चेतना और उसके द्वारा स्वीकृत चिरन्तन मूल्य अब उतने असंदिग्ध नहीं रह गए हैं। विकासवाद के आधार पर नयी नैतिकता और नये मूल्यो का प्रस्फुटन हुआ है। नैतिकता किसी सत्य अथवा ऋत, किसी ईश्वर अथवा अवतार की आज्ञा नहीं रहकर मनुष्य और जीवन मे ही आधारित सिद्ध हुई है। स्वयं धर्म विकास की प्रक्रिया से उत्पन्न हुआ है। ईश्वर ने यह सृष्टि ऐसी ही किसी दिन नही

उत्पन्न कर दी थी, उसका निर्माण प्रतिक्षण हो रहा है। (द्रष्टव्य, हिन्दी साहित्य-कोश : विकासवाद)

इस प्रसंग में तीसरा विषय सनातनता का है। सनातनता का सम्बन्ध काल-बोध से अधिक आध्यात्मिक चेतना से है। यह संस्कृति का एक विशिष्ट आयाम है। डॉ० गोविन्द चन्द्र पाण्डे की व्याख्यानुसार ' सामाजिक परम्परा के रूप में संस्कृति में स्थूल ऐतिहासिकता देखी जा सकती है। दूसरी ओर अनन्त मूल्यानु-सन्धान को अभिव्यक्त करने के नाते उसमें परमार्थ की ओर एक क्रमबद्ध उपसर्पण के सनातन इतिहास का सकेत मिलता है। (भारतीय परम्परा के मूल स्वर : पृष्ठ 6)

आवश्यक है कि इन तीनों विशिष्ट सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि में प्रपद्यवाद और उसकी स्वायत्तता विषयक अवधारणा पर विचार कर लिया जाय। समाजशास्त्रीय सापेक्षवाद की मौलिक स्थापना है, किसी सत्य का सार्वजनीन और सार्वकालिक नही होना। इससे व्यक्ति, समाज और कालखण्ड तीनो की स्वायत्तता स्पष्ट होती है। प्रयोग की सैद्धान्तिक भूमिका भी यही है कि किसी भी वस्तु की मान्य प्रकृति (accepted nature) का ज्ञान प्रयोग द्वारा पुनः प्राप्त किया जा सकता है और नयी उपलब्धियां प्राप्त की जा सकती है। स्पष्ट है कि प्रपद्यवाद (प्रयोगवाद) के लिए प्रत्येक वस्तु या घटना का स्थानीय मान होता है तथा यह मान अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होता है। यह तभी सभव है, जब सत्य को सार्वकालिक और सार्वजनीन नही माना जाय। परन्तु प्रपद्यवाद समाजशास्त्रीय सापेक्षवाद को सत्य-सम्बन्धी अवधारणा को ठीक उसी रूप में स्वीकार नहीं करता है। इस वाद की अपनी व्याख्या है कि सत्य तो सुस्थिर है, किन्तु उसको पाने, अनुभव करने तथा अभि-व्यक्ति की पद्धति युग-सापेक्ष होनी चाहिए। काव्य-प्रसग में यह बात अधिक आवश्यक है। यह वाद यह मानता है कि वर्तमान युग की चेतना बौद्धिक चेतना है। अभी ज्ञान प्रसार की तुलना में भाव प्रसार कम है। अस्तु, काव्यरचना और उसके अनुभावन में जब तक युगीन आवश्यकताओं के आधार पर नयी दृष्टि, नयी पद्धति, नये शब्द-प्रयोग, नये बिम्ब-विधान नहीं होंगे—तब तक न तो काव्य युग चेतना को अभिव्यक्त कर पाएगा और न ही वह पाठको को आकृष्ट कर सकेगा।

प्रयोगवाद के सन्दर्भ में विचार-हेतु विकासवादी अवधारणा के कुछ बिन्दु द्रष्टव्य हैं . (i) मनुष्य और विचार स्थिर नहीं, गतिशील हैं, (ii) परिवर्तन, विकास, परिवर्द्धन और उन्नति उसके जीवन-सूत्र हैं, (iii) मानवता का दृष्टि-कोण भौतिक और ऐहिक हो गया है, (iv) नैतिकता किसी सत्य अथवा ऋत, किसी ईश्वर अथवा अवतार की आज्ञा न रहकर मनुष्य और जीवन में ही आधारित सिद्ध हुई है।

पूर्व निवेदन के आधार पर पुन एक बार यह बात कही जा सकती है कि

प्रपद्यवाद मनुष्य ही नही उसकी भिन्नश. स्थिति मे गतिशीलता को स्वीकार करता है और यह मानता है कि युग और सन्दर्भ मे आये परिवर्तन से काव्य के सन्दर्भ एवं आकांक्षाए बदल जाते हैं। उसी के अनुरूप काव्यात्मक प्रयोग अपेक्षित होते हैं। एक प्रकार से यही प्रयोग को उत्प्रेरित करनेवाली स्थिति है। यह वाद भी नैतिकता का हेतु किसी बाह्य प्रेरणा को नही, मानव की अपनी आन्तरिक प्रेरणा को स्वीकार करता है। इस प्रकार इस वाद की दृष्टि ऐहिक और लौकिक है। परिवर्तन, विकास, परिवर्द्धन और उन्नति की प्रक्रियान्तर्गत जीवन की गतिशीलता मे विश्वास रखते हुए भी यह वाद सत्य को अपरिवर्तनशील मानता है। यह विकासवादी सिद्धान्त के साथ इसका प्रथम मौलिक अन्तर है। यह विभिन्न दृष्टि कोणो, कथन भगिमाओ और दूसरे प्रयोगो-द्वारा उसी सत्य को पाने की चेष्टा करता है। प्रयोगवाद अथवा प्रपद्यवाद का विकासवाद के साथ दूसरा वैषम्य अति महत्त्वपूर्ण प्रश्न मानव स्वतन्त्रता को लेकर है। विकासवादी सिद्धान्त सूत्र जहा नात्सी और फासिस्ट आन्दोलनो के मूलाधार है, वहीं प्रपद्यवादी दर्शनसूत्र 'सर्वतन्त्र स्वतन्त्र'—ता मे अशेष विश्वास रखता है। एक के लिए मानव स्वतन्त्रता, करुणा आदि अनावश्यक हैं और क्रूरता, युद्ध आदि सहज करणीय तो दूसरे के लिए प्रत्येक व्यक्ति की निजी सत्ता की स्वतन्त्रता एक अनिवार्य माग है। यही नही, यह किसी भी प्रकार की वैचारिक प्रतिबद्धता को मानव के लिए, विशेषत: काव्य और साहित्य के लिए सर्वथा त्याज्य मानता है। अस्तु, यह निवेदन कर देना आवश्यक है कि प्रपद्यवाद की इस धारणा को कि यह वाद प्रयोग को साध्य मानता है तो इसका यह अभिप्राय नही लिया जाना चाहिए कि यह उस परिवर्तन या गतिशीलता को स्वीकार करता है जो विकासवादी अवधारणा के मूल सिद्धान्त और लक्ष्य हैं।

अब अन्त मे, समाज धारणा की सनातनवादी व्याख्या के सन्दर्भ मे प्रपद्यवाद की स्थिति का नातिदीर्घ अंकन किया जाय। यह कहा जा चुका है कि सनातनता का दृष्टिकोण अनन्त मूल्यानुसन्धान पर आधारित है। इस नाते यह अध्यात्मपरक अवधारणा है जिसमे सर्जन, पालन और लईकी एक सुनिश्चित गति होती है। इसका सूत्रधार ब्राह्मी शक्ति मानी गई है। प्रपद्यवाद इस महाकोश में से अनन्त मूल्यानुसन्धान को अपने लिए आदरपूर्वक ग्राह्य मानता है। प्रपद्यवाद द्वारा व्यवहृत दृष्टिकोण का अनुसन्धान मात्र वस्तुस्थिति को देखने की प्रक्रिया ही नही है, अपितु इसी अनन्त मूल्यानुसन्धान की प्रक्रिया है। नलिन जी का प्रपद्य 'मद-जातक' इसका प्रमाण है कि मूल्यानुसन्धान एक सतत प्रक्रिया है।

उक्त तीन सिद्धान्त मानव, समाज और उसके विकास के अध्ययन के माध्यम से व्यक्ति की स्थिति, क्षमता और आकांक्षा को स्पष्ट करते हैं। इस अध्ययन का निष्कर्ष-जन्य अभिप्राय यह है कि जागतिक दृष्टि से सब कुछ गतिशील है। इस

गतिशीलता मे किसी वस्तु की वास्तविकता युग सापेक्षता मे है। अर्थात् युग से विमुख काव्य अपनी अर्थवत्ता खो देता है। लेकिन, युग सापेक्षता का वह अर्थ नही है, जिसे प्रगतिवाद ने स्वीकारा है। प्रगतिवाद युग सापेक्षता की सार्थकता अपने निश्चित राजनीतिक अर्थ एव अभिप्राय के लिए करता है। प्रपद्यवाद इसे विषय तथा कथन---भगिमा दोनो ही सन्दर्भों मे करता है। इसकी दृष्टि मे युगानुरूप अभिव्यक्ति और युगानुरूप विषय दोनो एक समान आवश्यक हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह कि सभ्यता की गतिशीलता, युग सापेक्षता, ऐहिकता आदि मे विश्वास रखते हुए भी यह वाद मानव स्वतन्त्रता मे अखण्ड विश्वास रखता है। यही इसकी मौलिक चेतना है। इसी के कारण कवि और काव्य की स्वायत्तता स्पष्ट होती है। यही नहीं, प्रपद्यवाद अपने पाठको को स्वतन्त्रता देकर कि वे उसकी रचना का मनचाहा अर्थ लें, पाठको की स्वायत्तता को भी स्वीकार करता है।

मूल विषय से थोडा हटकर, किंतु इसी विषय की स्पष्टता-हेतु समाजशास्त्रीय सापेक्षवाद, विकासवाद और इतिहास के सनातनतावादी सिद्धान्तो के अध्ययन के उपरान्त, हम अब पुन' अपने मूल विषय पर आते हैं। यह विषय है : काव्य की स्वायत्तता। इसके निमित्त कुछ बातें देखी जानी चाहिए।

कला से यह अपेक्षा की जाती है कि उसे सम्प्रेषणीय होना ही चाहिए। सम्प्रेषणीयता काव्य की वह शक्ति है, जिस पर उसकी अभिव्यक्ति प्रयोजन तथा साध्य की सफलता-सहित निर्भर करती है। यह साधन और साध्य दोनो है। इसकी सफलता इसके घटक पर निर्भर करती है। घटक मुख्यत. दो हैं दाता (कलाकार) और ग्राहक (पाठक और आशंसक)। इन दोनो के मध्य का मिलन-बिन्दु वह उत्पादन है *जिसे कला या रचना की सज्ञा दी जाती है। उत्पादन के* विषय या उसके वैशिष्ट्य उसे ग्राह्य अथवा अग्राह्य बनाते हैं। इस सरचना चक्र मे मूल वस्तु है : दाता या कलाकार। उसकी ईमानदार अभिव्यक्ति (रचना) सम्प्रेषण की योग्यता प्राप्त कर पाती है। ऐसी स्थिति मे उसके लिए आवश्यक महत्त्व की वस्तु है कि वह अपने आवेग और आवेश, विचार और तर्क, कल्पना और भावानुभूति को पूर्ण निस्सग रूप में प्रस्तुत करे---न तो उसे छिपाये और न ही तोड-मरोडकर, अपने निजी सैद्धान्तिक आग्रह के वशीभूत होकर प्रस्तुत करे। ऐसी अवस्था मे उसे अपने पास जाना होगा, उसे सोचना होगा कि सामाजिक सरोकार साहित्य मे त्याज्य नही है। इसे एक आवश्यक कर्त्तव्य मानकर किया जाना चाहिए, किसी विचारधारा से प्रतिबद्ध होकर नही। प्रतिबद्धता कला और कलाकार दोनो को क्षतिग्रस्त करती है। इनसे रचना इतिवृत्तात्मक और सिद्धात विशेष की नीरस प्रचारिका हो सकती है, भावपेशलता से यह निश्चय ही दूर हो जायेगी। प्रप्रद्यवादी कवि नलिन जी ने इन्ही कारणो से यह आग्रह किया था कि

'साहित्य को मार्क्स और फ्रॉइड से आगे जाना होगा' तथा 'आर्थिक-राजनीति, मतवादों से प्रतिबद्ध रचनाकारों को साहित्य से पृथक् सामाजिक जीवन के अन्य क्षेत्र मे अपनी प्रतिभा आजमानी चाहिए।' सुप्रसिद्ध विचारक और कवि मलयज की धारणा है कि कला की नैतिकता सबसे पहले और सबसे आखिरी यह है कि वह अपने अनुशासन पर कोई दूसरा अनुशासन हावी न होने दे।' (पूर्वग्रह, अंक 51-52) कविता आपाततः भावना और अनुभूति-प्रधान सांवेदनिक साधना है। इस साधना में शब्द उसका माध्यम और चित्रण उसका लक्ष्य होता है। शब्द वैयक्तिक प्रयोग की वस्तु है। भाषा तक को यादृच्छिक माना गया है। माना गया है कि महान् रचनाकारों के एक-एक शब्द पढ़ने चाहिए। पाश्चात्य समीक्षकों ने इसी कारण साहित्यकार को 'A man of letters' कहा है। प्रपद्यवाद की भी दार्शनिक स्थिति यही है : यह वाद यह मानता है कि उसके द्वारा प्रयुक्त प्रत्येक शब्द उसका अपना होता है तथा प्रत्येक शब्द का एक नाम होता है।

इसी प्रकार प्रपद्य द्वादश सूत्र मे कुछ अन्य ध्यातव्य सूत्र हैं—यह वाद दृष्टि-कोण का अनुसन्धान है, इसका पूर्ववर्ती प्रपद्य नही मिलता है, इसकी यह मान्यता है कि इसके लिए महान् पूर्ववर्तियो का अनुकरण भी त्याज्य है और इसकी यह अपेक्षा है कि इसका भी अनुकरण नही किया जाये। इनका निष्कर्ष यही है कि यह वाद भाव, विचार, वस्तु और शिल्प के प्रवाहात्मक नैरन्तर्य मे विश्वास नही रखता है और न ही यह भूत, भविष्यत् अथवा वर्तमान के किसी पूर्ववर्ती या उत्तरवर्ती मानव या मानव समूह के प्रति स्वय को उत्तरदायी पाता है और न ही आबद्ध ही। यह वाद प्रत्येक क्षण, घटना, शब्द और कवि को सर्वतंत्र स्वतंत्र मानता है। इसकी यही दृष्टि इसे एक ओर स्वायत्तता प्रदान करती है, दूसरी ओर इसे प्रयोग-द्वारा अनुसन्धान पाने की शक्ति देती है। स्वायत्तता और सर्वतंत्र स्वतंत्रता का अभिप्राय मात्र वैचारिक अप्रतिबद्धता ही नही है, अपितु इसका अर्थ यह भी है कि यह प्रत्येक क्षण, घटना और व्यक्ति को एक स्वतंत्र इकाई मानकर, इस स्वतंत्र खण्ड के द्वारा सम्पूर्ण, समस्त तथा अखण्ड मानव जीवन एवं जगत् का अध्ययन करना चाहता है। इसके लिए योगियो की कृच्छ्र साधना की पद्धति स्वीकार करता है। जैसे कोई कृच्छ्र साधक योगी अपनी सम्पूर्ण शक्ति और सभावनाओं को एक ही बिन्दु पर केन्द्रित कर डालता है तथा पिण्ड में ब्रह्माण्ड के दर्शन करता है, वैसे ही महान् और तत्त्वदर्शी कवि खण्ड अथवा जीवन के छोटे-से अंश के द्वारा समस्त की अनुभूति एवं अभिव्यक्ति कर सकता है। इस आधार पर यह वाद लोक के प्रति अपने उत्तरदायित्व 'To the people' को 'Through the people' द्वारा नही, वरन् व्यक्तिशः, दूसरे शब्दों मे व्यक्ति के 'स्व' की अनिवार्य भूमिका द्वारा पूर्ण करना चाहता है। इस स्थिति को इस रूप मे समझना अपेक्षया सरल होगा कि विचार और प्रत्यय सक्रमण मूलक होते हैं। इसके गमन की क्रिया चालन की क्रिया

होती है। भौतिक विज्ञान मे तापगमन की तीन विधियो मे से एक चालन पद्धति है। इसमे ताप किसी वस्तु के उस भाग को सर्वप्रथम गर्म करता है, जो उसके समीपस्थ होता है। वह भाग जब गर्म हो जाता है, तब वह अपने निकटस्थ भाग को गर्म करता है। क्रमशः सम्पूर्ण पदार्थ गर्म हो जाता है। विचारो और प्रत्ययो मे सक्रमण भी इसी प्रक्रियान्तर्गत होता है। एक साथ एक बडे समूह को किसी सिद्धान्त विशेष मे दीक्षित नही किया जा सकता। यह कार्य सदैव व्यक्तिशः ही होता है। वैचारिक सक्रमण, विकास और प्रचारकी इस विधि की सैद्धान्तिक पृष्ठ-भूमि के कारण प्रपद्यवाद ने अपनी काव्य-साधना को समूह मे नही फैलाया। इसने व्यक्ति को देखा। उसी के माध्यम से उसकी समस्याओ की परख की एव उसकी भौतिक-सास्कृतिक आकाक्षाओ की अभिव्यक्ति अपने काव्य-द्वारा की है। इस वाद के समक्ष यह सच्चाई रही है कि जिन्होने समूह और समूह-चेतना को काव्य माध्यम द्वारा उठाने की बात सोची है, वे प्रायः अपने प्रयत्न मे असफल रहे है तथा उनका काव्य नीरस, इतिवृत्तात्मक एव राजनीतिक-आर्थिक-सामाजिक दर्शन विशेष का प्रतिबद्ध व्याख्याकार हो गया है।

यह एक महान् बात है कि भाव और भाषा की महत्तम शक्ति का उपयोग पद्य मे ही सभव है। पद्य की प्रकृति गद्य की प्रकृति से भिन्न होती है। पद्य मे उत्कृष्ट केन्द्रण होता है। इसकी प्रक्रिया सघनन की होती है। गद्य मे विश्लेषण होता है। इसकी प्रक्रिया विश्लेषण की होती है। इस अन्तर-विश्लेषण मे यह बात ध्वनित होती है कि सघनन और केन्द्रण की क्रिया व्यापक और विस्तृत होकर हो सकती सभव नही है। इसके लिए फैलाव नही, सकुचन चाहिए। सकुचन जितना सुदृढ होगा, इसकी परिधि जितनी छोटी होगी, मगर इसके सन्दर्भ और सम्बद्ध जीवन जितना बडे और व्यापक होगे, केन्द्रण उतना ही तीव्र और सही होगा। इस प्रकार बात इस स्थान पर पहुचती है कि काव्य स्वायत्त होने के कारण कवि के अपने निजी आवेश की निष्पत्ति है।

यह बहुज्ञात तथ्य है कि महान रचनाए भी आद्यन्त एक जैसी नही होती हैं। उनके अधिकाश स्थूल साधारण होते हैं। कारण क्या है? विस्तार प्रकृति का धर्म है, मानवीय चेष्टाओ का नही। मानव की श्रेष्ठता किसी केन्द्र मे रुकने और भटकने से ही सभव है। यहा आत्मस्थ और आत्मस्त हुए बिना उत्कृष्टता पाना कठिनतर है। अस्तु, यदि काव्य की रचना-प्रक्रिया इस रहस्य का पालन करती है, तब वह श्रेष्ठ बन पाती है, उत्कृष्ट काव्य होने के लिए यह बहुत आवश्यक है कि वह आकाशीय विद्युतकौंध उत्पन्न करे। एक परम प्रकाश क्षण ही उसका जीवन है। गर्जन-तर्जन और वृष्टिवर्षण उसकी उत्तरवर्ती क्रियाए भले ही हो, किन्तु उसकी मूल प्रकृति विस्तार की नहीं है। इसे स्वीकार कर लेना ही सहज है।

आकाशीय विद्युत कौंध की बात कहकर यहा न तो काव्य-माध्यम से पाठको

के ऊपर ऐन्द्रिक आघात उत्पन्न करने वाली बात की जा रही है और न ही इससे इस बात की ध्वनि निकलनी चाहिए कि कवि मानव-जीवन की किसी गहन-गंभीर समस्या या वैशिष्ट्य के स्थान पर किसी कमतर, अमहत्त्वपूर्ण और चमत्कार उत्पन्न करने वाले किसी हलके-फुलके विषय को प्रस्तुत कर, पाठकों को चमत्कृत कर दे। यदि आकाशीय विद्युतकौंध से यह अभिप्राय निकाला जाता है तो यह जीवन से पलायन—जैसी बात होगी और तब कविता का न तो अस्तित्व बचेगा, न उसका प्रयोजन। वस्तुतः यह अर्थ और भाव के चरम संश्लेषण का अर्थ देता है। इसकी ध्वनि यह है कि कवि कम-से-कम शब्दों-द्वारा, छोटे-से-छोटे वाक्यो द्वारा बड़ी-से-बडी बात कह जाय। इस विषय की पुष्टि के लिए एक सरल उदाहरण देखना स्वाभाविक होगा। उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध से भारतीयो मे नव-जागरण का विशेष आग्रह दिखाई पडता है। इसके कारण व्यक्ति और समाज-जीवन के कई रूढ़िग्रस्त और अनुदार पक्षो मे सुधार, कुछ की नयी व्याख्याए और कुछ की समाप्ति के लिए प्रयत्न किए जाने लगे। नारी-मुक्ति, विधवा-समस्या, बालविवाह, सती प्रथा, आर्थिक-मानसिक उत्पीडन आदि स्थितियो को लेकर बड़े-बडे सुधार आन्दोलन चले। स्वामी दयानन्द सरस्वती, राजा राममोहन राय, महात्मा गाधी आदि के अनेक सार्थक प्रयत्न भी हुए। पर इन सबसे नारी-जीवन का सम्पूर्ण क्या खण्ड विशेष भी ठीक से अभिव्यक्त नही हो सका। दूसरी ओर महाकवि मैथिलीशरण गुप्त की दो पंक्तिया हैं :

अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी
आचल मे है दूध और आखो मे पानी।

ये दो पंक्तिया नारी-जीवन की युग-युग की गाथा, मनोभाव और आकाक्षाओ को स्पष्ट कर देती है। पत्नीत्व, मातृत्व और कुलवधू के त्रिकोण मे आयत्त उसका जीवन भावो के किस वात्याचक्र मे है और 'दूध' तथा 'पानी' का कैसा भाव सकुल सम्बन्ध उसके साथ है—यह बड़ी सरलता एव सम्पूर्णता से सामने आ जाता है। नारी-जीवन की व्यथा और कथा को ये दो पंक्तिया बड़े सरल और सक्षिप्त रूप मे रखती हैं—यह केन्द्रण और भाव-संश्लेषण का अप्रतिम उदाहरण है। इसी कारण नारी विषयक ऐसी दृष्टि अन्यत्र दुष्प्राप्य है। नारी-जीवन की इतनी सजग और सटीक व्याख्या बडा-से-बडा ग्रथ और श्रेष्ठ व्याख्याकार भी नही कर सके हैं। ये दो पंक्तिया मात्र पंक्तिया ही नही, महावाक्य है। ऐसे ही महावाक्यो को 'आकाशीय विद्युतकौंध' से उपमित किया गया है।

इतिहास के अर्थविभावन (conception) सम्बन्धी आ० रामचन्द्र शुक्ल जी का बड़ा प्रसिद्ध चिन्तन चित्तवृत्तियों के आधार-ग्रहण के रूप मे है। यह सिद्धान्त कदाचित् इतिहास के अर्थ को खोलने वाले मूल कारण को स्पष्ट नही करता है। इससे साहित्य-सर्जन की मौलिक प्रेरणा भी उलझ जाती है। 'शिक्षित जनता की

चित्तवृत्ति' की बात कहकर उन्होंने दो समस्याएं खड़ी कर दी हैं—प्रथम यह कि साहित्य-सर्जन की प्रेरणा क्या सामान्य जन से नहीं मिलती है? क्या उस समूह के प्रति उसका कोई उत्तरदायित्व नहीं है? द्वितीय यह कि इस स्थापना के द्वारा उन्होंने यह दिखाने का यत्न किया है कि साहित्य-सर्जन में सर्जक की अपनी निजी सत्ता का कोई योगदान नहीं है और वह अपने आन्तरिक नहीं, बाह्य कारणों से अभिप्रेरित होता है। चित्तवृत्ति का प्रभाव-प्रक्षेपण चाहे जनता के थोड़े-से अंश के द्वारा हो या बहुत बड़े समूह के द्वारा—दोनों बातें इस अर्थ में बराबर हैं कि यदि ऐसा होता है तो फिर कवि का स्वानुभूति, कल्पना और आवेग का क्या अर्थ है?

चित्तवृत्ति वाले इसी प्रसंग में विचारणीय है कि क्या इस प्रकार की कोई चित्तवृत्ति होती है? क्या सर्जक उससे प्रभावित होता है? सामूहिक चित्तवृत्ति सामूहिक मनोविज्ञान के अर्थ में व्यवहृत होती हुई सी लगती है। इस प्रकार की मनोवैज्ञानिक अवधारणा में यह बात बताई जाती है कि व्यष्टि के समान समष्टि का भी अपना एक मनोविज्ञान होता है। वह भी चेतन-उपचेतन के विभिन्न स्तरों पर जीता है। उसकी मनोवैज्ञानिक अपेक्षाएं होती हैं। समष्टि की वे आकांक्षाएं ही, जिनके निर्माण में कई प्रकार के सामाजिक-आर्थिक-सांस्कृतिक दबाव होते हैं, उनका मनोविज्ञान है। ऐसा प्रतीत होता है कि आ० शुक्ल जी ने उसे ही समूह की चित्तवृत्ति माना है। इस प्रकार के समष्टि और सामूहिक मनोविज्ञान या चित्तवृत्ति की अवधारणा को स्वीकार करते हुए, यह निवेदन किया जा सकता है कि साहित्य-सर्जन में मूलत. और अन्ततः इसी बात का प्रभाव पड़ता है; यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है। पौराणिक कथाएं (पुरावृत्त) या उन पर आधारित अन्य साहित्यिक रचनाएं सामूहिक मनोविज्ञान के अधिक निकट होती हैं। सभी प्रकार की रचनाओं को इसी कोटि में रखना तथा इसी आधार पर साहित्येतिहास की व्याख्या करना, समीचीन नहीं लगता है।

चित्तवृत्ति के आकलन का आधार क्या हो? इसे आ० शुक्ल जी ने औसत और बहुमत के आधार पर आंकने का यत्न किया है। क्या यह धारणा सही है? कल्पना कीजिए, किसी एक प्रवृत्ति की बहुसंख्यक पुस्तकें हमें मिलती हैं, पर वे उच्च स्तरीय नहीं हैं। दूसरी ओर अल्पसंख्या में प्राप्त, परन्तु गुणात्मकता में उच्च स्तरीय, यहां तक कि कालजयी पुस्तकें प्राप्त होती हैं—तो क्या संख्या-न्यूनता के कारण उनका महत्त्व कम है? क्या वे शिक्षित और सामान्य जनता की संयुक्त रूपेण प्रतिनिधि नहीं हो सकती हैं?

एक बात और समकाल में ही विविध विषयों एवं सर्वथा भिन्न प्रवृत्तियों पर उत्कृष्ट रचनाएं संभव हैं। उदाहरण है, हिन्दी का आधुनिक काल। उर्वशी, गोदान, कामायनी, तुलसीदास, राम की शक्तिपूजा, अंधा युग, साकेत, शेखर, सुनीता आदि एक-से-एक उत्कृष्ट रचनाएं इसी काल में रची गई हैं। दूसरी

भाषाओं मे गीताजलि (रवीन्द्र) तथा सावित्री (श्री अरविन्द) जैसी रचनाएं इसी काल मे आई है। इनमे से किसे जनता की चित्तवृत्ति का प्रतिनिधि माना जाय? वस्तुत. जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में लोग अपने श्रम का प्रतिदान चाहते हैं। यह स्वाभाविक ही है। काव्य-सर्जन का क्या प्रतिदान होना चाहिए? काव्य के अतिरिक्त ज्ञान की दूसरी शाखाए जीवनगत समस्याओ के किसी-न-किसी पक्ष का ठोस समाधान ढूढती हैं। जो यह मानते हैं कि साहित्य भी ऐसा ही समाधान ढूढता है या उसे ढूढना ही चाहिए, वे आशिक सत्य के आग्रही हैं। सच्चाई यह है कि कला मात्र आत्मिक विरुजता देती है। इसे दर्शनशास्त्र मे चित्त की व्यापकता माना गया है। आ० शुक्ल ने कदाचित् इसे ही आत्मा की मुक्तावस्था का नाम दिया है। ऐसी अवस्था मे, यह प्रश्न उठता है कि चित्त क्या सामूहिक होता है? निश्चितत नही। यह नितान्त वैयक्तिक, परिणामत. स्वायत्त है।

जगत् का बोध व्यक्ति करता है। व्यक्ति-द्वारा बोध की इस प्रक्रिया मे समस्त चिन्तन, मनन और बोध-सवेदन एक ही बिन्दु पर घनीभूत हो जाते हैं अर्थात् बोध मे ये समस्त वस्तुए एक साथ सहयोग देती हैं। बोध प्रक्रिया, इन वस्तुओ का आश्रय लेकर, क्रमश: सूक्ष्मता की ओर चली जाती है तथा इसकी परावस्था मे विचारो की समाप्ति हो जाती है। तब विशुद्ध चेतना शेप रह जाती है। इस स्थिति मे मात्र वर्तमान काल ही रहता है, क्योकि चेतना और वर्तमान दोनों एक ही वस्तु है। (चेकोस्लोवाकिया के अति प्रसिद्ध कवि मोरोस्लाव होलुब ने प्रायोगिक मनोविज्ञान के नवीनतम आकड़ो के आधार पर यह सिद्ध कर दिया है कि वर्तमान क्षण मात्र तीन सैकण्ड लम्बा होता है। भारतीय चिन्तन परम्परा मे भी इसे 'त्रिक्षण वृत्तित्वम्' के रूप मे स्वीकार किया गया है।) यही कारण है कि साहित्य और कला मे, हम जिन वस्तुओ का अनुभव करते है, काल की दृष्टि से वे हमारी चेतना की वास्तविकता मे आ जाती हैं। इसी प्रकार उनकी अभिव्यक्ति का काल भी वर्तमान काल ही होता है। एक अर्थ मे, कवि और कलाकार चेतना क्षेत्र मे, अनुभव और अभिव्यक्ति करते समय, वर्तमान काल का होता है। यह वर्तमान काल क्योकि उसके विचारों की परावस्था होता है, इस कारण वह अपने निजी और स्वायत्त लोकवासी होता है।

यहा इस तथ्य पर विचार कर लेना भी स्वाभाविक होगा कि कवि और कलाकार की चेतना यद्यपि स्वायत्त चेतना होती है तथापि उसकी व्यापकता और सम्बद्धता विश्व चेतना मे होती है। चेतना चाहे जिस किसी मे घटित हो, वह विश्व चेतना ही होती है, क्योंकि देह-भेद से यह सभी मे घटित होती ही रहती है। (इसे ही हमने प्रारम्भ में विश्व दृष्टि—Weltanschauung—तथा Cosmic चेतना के रूप में निवेदित किया है।) ऐसा कहने के पीछे कारण यह है कि विचारो की उत्पत्ति और लय से ही चेतना की उत्पत्ति होती है। इस विचार सूत्र

को स्पष्ट करने के लिए यह समझ लेना आवश्यक है कि चेतना है क्या ? चेतना का अर्थ है—अस्तित्व बोध। इसी आधार पर यह निष्कर्ष उपस्थित किया जाता है कि कवि का प्राथमिक दायित्व उसका अपने लोक या स्वानुभूति के प्रति है। कवि और कलाकार यदि ऐसा कर पाते हैं, तभी वे विशुद्ध कला-क्षेत्र मे विद्यमान रहते है। इससे भिन्न स्थिति कला की नही, वैचारिक क्षेत्र की होती है, जिसमे सामाजिक-राजनीतिक मताग्रह के कारण अभिव्यक्त विषय या विचार कला के नहीं, बाह्यारोपित होते है। कला का साधक इस स्थिति को समझता है। इसी से वह जगत् का रहस्य ढूढने के स्थान पर स्वय अपनी ओर मुड जाता है। यह मुडना जितना गम्भीर होगा, परिणाम उतना ही व्यापक होगा। इस मुड़ने के कारण जो विकास-प्रक्रिया होगी, वह निम्न है—स्व-स्वजन-बहुजन-सर्वजन। इसे ही दर्शन-शास्त्र की भाषा मे कहे तो अपनी ओर मुडी हुई गम्भीर और ईमान दृष्टि मे टाइम, मैटर और स्पेस समाप्त हो जाते है और चतुर्थ आयाम के रूप में बच जाती है मात्र चेतना। निवेदन किया जा चुका है कि चेतना ब्रह्म स्वरूप है। निजी होने पर भी एक की चेतना सब की चेतना हो जाती है।

पूर्व पक्तियो मे चेतना और काल-बोध का सम्बन्ध इन शब्दो मे अभिव्यक्त किया गया है कि चेतना का काल वर्तमान काल होता है। वर्तमान का काल काव्य में नीरस और सीमित तात्कालिकता नही होता है। काव्य और कला मे भाव, अर्थ एव रूप सौष्ठव तभी सभव है, जब उनमे अभिव्यक्त वस्तु, पात्र, घटना या विषय तात्कालिकता के साथ-साथ वृहत्तर भी हो। इसी मे जीवन का अभिप्राय सुरक्षित है। जिस काव्यवाद अथवा कलावाद ने इस अभिप्राय को नही समझा, वह जीवित मानव के प्रति कितना सीमित और बाहर-बाहर रह गया, इसका उदाहरण हिन्दी का प्रगतिवाद है। इस वाद ने जीवन के प्रति महान् लक्ष्य रखते हुए भी, वृहत्तर के स्थान पर मात्र तात्कालिकता को मुख्य मान लेने के कारण, जिस मानव को अपने काव्य मे प्रस्तुत किया, उसके सम्बन्ध मे यही कहा जा सकता है कि जिस मानव को प्रस्तुत किया गया है, उसे कवि जानता तो है, पहचानता नही है। 'जानना' और 'पहचानना' का अन्तर बहुत साफ है। जानना बाह्य परिचय मात्र है। पहचान (परिचय) मे व्यक्ति के प्रति हमारी सम्पूर्ण सलग्नता रहती है। इस प्रसग मे लक्ष्मीकान्त वर्मा की यह उक्ति देखी जानी चाहिए: 'वास्तविक सन्दर्भ मे देखने से प्रगतिवाद केवल एक अयथार्थवादी भावधारा मात्र रह जाता है। यथार्थ के प्रति उसका दायित्व नही है, क्योंकि वह यथार्थ की सीमित और सकुचित परिधि को ही देखना चाहता है, उसको भी अपने रगीन चश्मे से। वह यह नही चाहता कि जो भी यथार्थवादी दृष्टि विकसित हो, उसमे सामान्य भावानुभूतियों की विविधता हो। वह चाहता है कि सारी विविधता को एकरूपता में बदल कर प्रस्तुत किया जाय, वह एकरूपता भी ऐसी जिसमे साम्प्रदायिकता की

गंध हो, जिसमे दृष्टि को विस्तार न मिलकर परिबद्धता मिले। (हिन्दी साहित्य-कोश : प्रगतिवाद)

छायावाद और प्रगतिवाद ने ही नही, प्राय: बहुलांश कविता ने यह कार्य नही किया है। यदि वह अपने देश की जनता को पहचान लेती तो उसकी संलग्नता के भी वे ठिकाने वह पा लेती, जहा वह तात्कालिकता के साथ-साथ वृहत्तर भी होती है। जिसे हमने पूर्व में चेतना और अस्तित्वबोध कहा है, वही अस्मिता अपनी और अपने देश की जनता की वास्तविक संलग्नता की पहचान है। यह चेतना अपने ही इतिहास और परम्परा की टकराहट से पैदा होती है, जिसकी हम लगातार उपेक्षा कर रहे हैं। वर्तमान और वृहत्तर का कुशल सयोजन सर्वथा नही ही हुआ है, ऐसा नही माना जा सकता। कबीरदास, सूरदास, तुलसीदास आदि के साहित्यो मे यह संलग्नता विद्यमान है। आधुनिक युग मे निराला और प्रेमचन्द मे यह तत्त्व अपने समकालीनो की तुलना मे अधिक स्पष्ट है। निराला 'भिक्षुक' मे भिक्षुक-बालको के साथ एक विशेष अद्वैत और समानुभूति स्थापित करते हैं। उनके कलेजे का दो टूक होना और उन्हें अभिमन्यु-सा बना देने की आकाक्षा रखना, इस संलग्नता के बहुत निकट है। 'गोदान' का नायक होरी इस दृष्टि से अप्रतिम है। उसका व्यक्तित्व सघर्ष और करुणा की महागाथा है। एक ओर वह अपने संघर्षशील और अभावग्रस्त जीवन के साथ वर्तमान काल मे है तो अपने करुणोदात्त चरित्र के कारण अपनी सास्कृतिक आध्यात्मिक परम्परा से सम्पृक्त होता हुआ, विश्वात्मा को प्रकट करता है। स्पष्ट है कि यह सलग्नता व्यग्रता और शीघ्र ही लक्ष्य पाने की हड़बड़ाहट वाली इच्छा से नही मिलती है। इसके लिए शान्त-सुस्थिर भाव और धैर्यापेक्षी कवि-कर्म की अपेक्षा होती है। त्रासद स्थिति तो यह है कि स्वाजित इस दोष के बाद भी हम चिन्ता करते हैं कि आज की कविता उस बिन्दु पर आ खड़ी हुई है, जहा उसके जीवित रहने मे सन्देह व्यक्त किए जा रहे हैं।

यह बात पूरे दावे के साथ नही कही जानी चाहिए, क्योंकि तब विवाद का एक अनपेक्षित विषय सामने लाया जा सकता है, तथापि यह कहने मे विशेष आपत्ति नही होगी कि वर्तमान और वृहत्तर को एक ही केन्द्र मे साधित कर तथा विषय और विषयवस्तु (विषय के साथ रचनाकार की दृष्टि जब मिलती है तब वह विषय वस्तु की सज्ञा पाती है) को उलट-पुलट कर सभी प्रकार के आसंगो और कोणो से देखने का कार्य प्रपद्यवाद ने अपने पूर्ववर्तियों की तुलना मे अधिक आत्मीयता और कुशलतापूर्वक किया है। यह कर्म दो प्राथमिक किन्तु आधारभूत प्रतिज्ञाओं के बल पर सम्पन्न हुआ है। इनमे प्रथम है—प्रयोग की माध्यता और द्वितीय है काव्य की स्वायत्तता। इससे वर्तमान और वृहत्तर, सीमित और असीमित, लघु और विराट् का कैसा समन्वय हो जाता है, इसे जानने के लिए प्रयोग-प्रक्रिया की नातिदीर्घ स्मृति कर लेने मे कोई आपत्ति नही है। प्रपद्यवाद में

एक ही विषय या घटना का, यहाँ तक कि उसके आरोह-अवरोह तक का चित्रण हुआ है। इस चित्रण मे इन सबका स्वतन्त्र अर्थ होता है और पुन. यदि समस्त खण्डो को समन्वित कर दिया जाय, तब भी एक ही पूर्ण और सन्तुलित अर्थ होता है। ऐसा कभी नही होता है कि अर्थों के घालमेल हो जाए और सब कुछ अस्त-व्यस्त हो जाए।

प्रयोग को साध्य मानने वालों के लिए यह बहुत आवश्यक था कि वे मात्र वैसे प्रयोग ही नहीं करते, जिन पर तात्कालिकता की छाया दीख पड़ती हो अथवा उसके द्वारा काल का एक ही आयाम प्रकट होता हो। यह तो कवि की प्रतिभा और संस्कार पर निर्भर है कि वह किसी क्षण वस्तु या भाव को कितना व्यापक और गहरा बना सकता है। इस दृष्टि से उसे पुरावृत्ति (मिथक) सम्बन्धी प्रयोगो में अधिक अवकाश और सुविधा मिलते हैं। यही कारण है कि इस क्षेत्र मे यदि वह नयी दृष्टि, नयी दृष्टि-भंगिमा प्रस्तुत करता है तब उसका प्रयोग अधिक गम्भीर हो उठता है। ऐसे तीन उदाहरण नलिन जी के प्रपद्य में हैं। प्रथम है 'गीत' शीर्षक प्रपद्य। इसमे उन्होने प्रेम और भक्ति को सर्वथा अपारम्परिक दृष्टि से देखा है। दूसरे, तीसरे उदाहरण क्रमश 'रामगिरि' और 'नवजातक' प्रपद्य हैं, जिनमे पौराणिक-ऐतिहास सन्दर्भों को इस रूप मे उपस्थित किया गया है कि इससे यह प्रमाणित हो जाता है कि पुरावृत्त नये भी बनाये जा सकते हैं।

इस निवेदन के अन्त मे यह कहना स्वाभाविक-सा होगा कि कला और भाव-प्रधान चेष्टाओ मे प्रारम्भ बुद्धि के सहारे होता है तथा उसका पर्यवसान भावना मे। यही स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाने की स्वाभाविक प्रक्रिया है। परन्तु, जिसने बुद्धि को अग्राह्य मान लिया, उस छायावाद ने या जिसने न तो भावना को और न ही बुद्धि को उसके प्रकृत रूप मे स्वीकार किया है, उस प्रगतिवाद ने, कला और एतत् सदृश्य वस्तुओ को महत्त्वहीन बना दिया। अपनी स्वायत्तवादी अवधारणा और प्रयोग की लक्ष्य साधना के आधार लेकर प्रपद्यवाद इन दोनो से पृथक् अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता है। इस वाद ने काव्य के परिदृश्य को परम्परा और वर्तमान के उत्कृष्ट तत्त्वो से जोड़ने का यत्न किया है। अनेक अज्ञात कारणो से समीक्षा जगत् ने प्रपद्यवाद और प्रपद्यवादी कवियो का वास्तविक मूल्याकन नही किया है। प्रस्तुत कृति इस अभाव की पूर्ति कर सकेगी, यह विश्वास है।

इस पुस्तक की रचना मे डॉ० श्रीरजन सूरिदेव (पूर्व सम्पादक एव सह-निदेशक, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्), डॉ० विजेन्द्रनारायण सिंह (अध्यक्ष एव प्रोफेसर, स्नातकोत्तर हिन्दी-विभाग, केन्द्रीय विश्वविद्यालय, हैदराबाद), श्रीमती कुमुद शर्मा (स्व० आचार्य नलिन विलोचन शर्मा की सहधर्मिणी) के मार्ग-निर्देशन एव स्नेह की आधार भूमिका रही है। मेरे जीवन के प्रारम्भिक चरण के निर्माता महान् वैयाकरण एव कवि श्री लक्ष्मीनारायण शर्मा 'मुकुर' (बरौनी), प्रो०

मदनेश्वरनाथ दत्त (बरौनी), डॉ० दिवाकर (नवादा), प्रो० राजबहादुर मिश्र (बरौनी), डॉ० दिवाकर शास्त्री (बरौनी) एवं श्री रामेश्वर प्रशान्त (बरौनी) का आत्मिक आभार प्रकट करना स्वाभाविक कर्त्तव्य होगा। पुस्तक-प्रकाशन मे सहयोगी श्री जगदीश शाह (बरौनी) का मैं आभारी हू। अपने प्रकाशक श्री भूपाल सूद का मैं अशेष आभारी हूं, जिनकी अभिनव और तत्त्व दर्शी योजना के कारण यह पुस्तक इस रूप मे प्रकाशित हो सकी है।

पुस्तक जिन्हें समर्पित है, यह उन्ही के योग्य थी। डॉ० शशिशेखर तिवारी की उदात्तता और सहज उपकार-भावना और ज्ञान-गम्भीरता का मैं अतल सम्मान करता हू। डॉ० श्री नारायण भट्ट मेरे गुरुतुल्य निर्माता रहे हैं। दैवयोग से पुस्तक-प्रकाशन के कुछ माह पूर्व उनका देहावसान हो गया है। उन्हे जीवित तन पुस्तक समर्पित कर पाने का अशेष दु:ख तो रह ही गया है। निश्चिततः, इस प्रकाशन से सर्वाधिक प्रसन्नता उन्हे ही होती।

पुस्तक-लेखन मे अनेक विद्वान् लेखको की पुस्तको और विचारो का उपयोग सहयोग-स्वरूप किया गया है। उनके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन करना मैं अपना नैतिक दायित्व समझता हू।

सर्वान्त मे एक निवेदन प्रपद्यवाद की सैद्धान्तिक और काव्य परिदृश्य की व्याख्या-समेत यहा मात्र आचार्य नलिन विलोचन शर्मा के प्रपद्य का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक के आकार एव सीमा की दृष्टि से यही स्वाभाविक था। शेष दो प्रपद्यवादी कवियो के प्रपद्य का अध्ययन पुस्तक के दूसरे खण्ड मे सभव हो सकेगा। इसी आत्म निवेदन के साथ—

—विश्वनाथ प्रसाद

कविता की स्वायत्तता

प्रपद्यवाद

काव्य-साधना : प्रपद्यवाद

जीवन अनन्त सम्भावनाओं का अक्षय भण्डार है। इसे स्वीकार करने मे दर्शन, मनोविज्ञान, विज्ञान अथवा कोई बौद्धिक अनुष्ठान अवरोध नही डालता। दृष्टि हमारी चाहे जैसी भी हो, हम सम्पूर्ण विश्व प्रपंच को नित्य परिवर्तनशील पाते हैं। परिवर्तनशीलता हमारे अपने संस्कार से इतनी अधिक एकाकार हो चुकी है कि हम यथास्थिति को सभ्यता की विकास-यात्रा के लिए विरुद्ध स्थिति समझते हैं। मानव के इस आग्रह को ज्ञान की विविध शाखाएं विभिन्न अपेक्षाओ मे देखती हैं। मनोविज्ञान मानता है, कि एक ही स्थिति की निरन्तरता ऊब उत्पन्न करती है। दर्शनशास्त्र कह सकता है कि अनुद्घाटित और अनुपलब्ध सत्य को पाने के प्रयत्न होते रहने चाहिए। साहित्य इन दोनो को स्वीकारते हुए यह आग्रह करेगा कि काव्य और जीवन द्रष्टा-सापेक्ष हैं। जीवन और विषय भोक्ता की आकांक्षाओ और क्षमता से बदल जाते हैं। न तो द्रष्टा की दृष्टि को नये-नये दृष्टिकोण अपनाने और परिवेशगत नई संगतियों (Association) मे देखने से रोका जा सकता है, न परिवेश तथा परिस्थिति के परिवर्तित होते ही, जीवन और विषय को बदलने से रोकना सम्भव है सत्य यह है कि परिवर्तन और परिवर्द्धन हमारी नियति है।

भारतीय चिन्तन धारा के दो बड़े स्पष्ट आयाम हैं। एक ओर तो यह समन्वय

प्रधान है, दूसरी ओर व्यक्ति-इकाई को भी यह स्वीकार करती है। यह मूल सूत्र 'एक सद्विप्राः बहुधा वदन्ति' मे ये दोनों आयाम सघटित हैं। 'एक' समन्वय को और 'बहुधा' व्यक्ति-इकाई की परिवर्तन और प्रयोगकाम्यता को स्पष्ट करते हैं। अतः इस आधार हेतु के आश्रय मे भी, इसी निष्कर्ष की प्राप्ति होती है, कि जीवन की अनन्त सम्भावनाओ को स्वीकार कर, प्रयोग और परिवर्तन की आवश्यकता को स्वीकार किया जाय।

यह अत्यन्त प्रारम्भिक अवधारणा है कि जीवन के किसी भी क्षेत्र मे उत्पन्न होने वाली प्रत्येक वस्तु पूर्व से भिन्न और नये दर्शन लेकर उपस्थित होती है। उपस्थिति की इस क्रिया की तीन दिशाएं सम्भव हैं—परम्परा मे आंशिक परिवर्तन, सामान्य विरोध और सम्पूर्ण विद्रोह। ये दिशाएं इस बात पर निर्भर करती हैं कि नवागत वस्तु किस आवश्यकता और प्रेरणा से आई है। प्रपद्यवाद हिन्दी काव्य की एक ऐसी काव्य-धारा है, जिसने अपने आगमन-द्वारा भाव और व्यंजना-क्षेत्र मे नयी स्थिति का प्रयोग-कर्त्ता बनने का श्रेय प्राप्त कर, काव्य मे एक नयी मन स्थिति और राग-बोध का सृजन किया।

प्रपद्यवाद के साथ छायावाद और प्रगतिवाद का सीधा सम्बन्ध है, क्योंकि इन दोनो वादो के सयुक्त विकल्प के रूप मे इस वाद ने स्वयं को स्थापित करने का यत्न किया था। अस्तु, यह आवश्यक-सा है कि प्रपद्यवाद-पूर्व की काव्यस्थिति—छायावाद, प्रगतिवाद का नातिदीर्घ स्मरण किया जाय। इन दोनो वादों की मौलिक स्थिति यह है कि छायावाद एक गतिमूलक विद्रोह या प्रतिवाद या वाद था, जिसने पूर्ववर्ती वर्णनात्मक-नैतिक प्रवृत्ति के विरुद्ध भावात्मकता एव गीतितत्त्व को काव्य सर्जन के आधार-रूप मे ग्रहण किया। दूसरी ओर, प्रगतिवाद ने छायावाद की अतिशय भावात्मकता के स्थान पर, सामाजिक जीवन के यथार्थ-पक्ष—भौतिक एव स्थूल विषयो को अपनी काव्य-प्रेरणा के रूप मे स्वीकृत किया। प्रपद्यवाद या प्रयोगवाद ने इन दोनो स्थितियो से भिन्न अवधारणापूर्वक रचना की प्रेरणा प्राप्त की। इन वादो की भूमिका को स्पष्ट करने हेतु डॉ० नगेन्द्र के प्रस्तुत विश्लेषण को देखा जाना चाहिए—"छायावाद भावावेश प्रधान है। इस कारण हम देखते हैं कि इसके कवि जीवनगत समस्याओ का समाधान भाव-स्तर पर ही ढूढते हैं। इन कवियो का जीवनगत दृष्टिकोण उदात्त, व्यापक एव सरल है, लेकिन यह उदात्तता और भाव-दशा जीवन से पलायन की स्थिति भी थी। फलतः चेतना की एक नयी दिशा का स्वभावत उदय हुआ। शताब्दी के तीसरे दशक के अन्त मे हिंदी कवियो मे छायावाद के भाव-तत्त्व और रूप-आकार दोनो के प्रति एक प्रकार का असन्तोष उत्पन्न हो गया था, और धीरे-धीरे यह धारणा दृढ होती जा रही थी कि छायावाद की वायवी भाव-वस्तु और उसी के अनुरूप अत्यन्त बारीक एव सीमित काव्य-वस्तु एव शैली-शिल्प आधुनिक जीवन की अभिव्यक्ति करने मे

सफल नही हुई। भाववस्तु मे छायावाद की तरल अमूर्त्त अनुभूतियो के स्थान पर एक ओर व्यावहारिक सामाजिक जीवन की मूर्त्त अनुभूतियो की माग हुई—दूसरी ओर, सुनिश्चित धारणाओ का जोर बढा और शैली-शिल्प मे छायावाद की वायवी और अत्यन्त सूक्ष्म कोमल सामग्री के स्थान पर विस्तृत जीवन की मूर्त्त, सघन और नाना-रूपिणी काव्य-सामग्री को आग्रह के साथ ग्रहण किया गया। आरम्भ मे इस प्रतिक्रिया का समवेतरूप ही दिखाई देता था। कुछ ही वर्षों मे इन कवियों के दो पृथक् वर्ग हो गए। एक वर्ग सचेत होकर निश्चित सामाजिक-राजनीतिक प्रयोजन साम्यवादी जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति को अपना परम कवि कर्त्तव्य मानकर रचना करने लगा। दूसरे वर्ग ने सामाजिक-राजनीतिक जीवन के प्रति जागरूक रहते हुए भी अपना साहित्यिक व्यक्तित्व बनाये रखा। उसने किसी राजनीतिकवाद की दासता स्वीकार नही की, वरन् काव्य की वस्तु और शैली-शिल्प को नवीन प्रयोगो-द्वारा आज के अनेक रूप और आस्था को चिर प्रयोगशील जीवन के उपयुक्त बनाने की ओर अधिक ध्यान दिया। पहले वर्ग को हिन्दी में प्रगतिवादी और दूसरे वर्ग को प्रयोगवादी नाम दिया गया।"[1]

स्पष्ट है कि यहा मानव के मानवत्व के दो पहलू हैं। एक मे मानव-व्यक्ति पर आग्रह है। मानव की जैविक परम्परा का अध्ययन कर, व्यक्तित्व के विकास के आधार पहचानकर, मानव के मन को समझना, उसके राग-विकार आदि को जानना और इस पृष्ठभूमि पर मानवी सम्बन्धों का वाहक बनना, यह एक पहलू है। इसमे विषय पर आग्रह है, सजीव विषय पर। विषय पर आग्रह के साथ वह सौन्दर्य के प्रतिमानो और रूप-विधान को स्वीकार करती हुई चलती है। इस प्रवृत्ति को प्रयोगवादी या प्रयोगशील कहा जाता है। दूसरे पहलू या प्रवृत्ति मे मानव-समष्टि पर आग्रह है। वह सामाजिक सगठन और विकास का अध्ययन करके सामूहिक उपचार के आधार ढूढ़ता है और आर्थिक सम्बन्धो का वाहक और व्याख्याता बनना चाहता है। इस प्रकार इसका आग्रह विषय पर नही, विषय की स्थिति पर है; निर्जीव परिस्थिति पर और यह सौन्दर्य शास्त्र की कोई परवाह नहीं करता। यहां तक कि कोई-कोई इसे उलझन और अड़गा-मात्र समझते हैं। पर यह एक अतिवाद ही है, क्योकि असम्भव नही है कि परिस्थिति पर आग्रह रूप-चेतना के साथ चले। यह पहलू है 'प्रगतिवादी'। निष्कर्ष यह है कि प्रगतिवाद आर्थिक-राजनीतिक-सामाजिक अनुचिंतन का मार्क्सीय फलक है और प्रयोगवाद वस्तुतः एक विशुद्ध साहित्यिक आन्दोलन है। यहां श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' उद्धरणीय है: "वह आदि से अन्त तक शुद्ध साहित्यिक आन्दोलन है, कला का आन्दोलन। इसका मुख्य ध्येय काव्य एव कला-सम्बन्धी हमारी धारणाओ को परिवर्तित करना है। यह आन्दोलन छायावाद की पीठ पर भी आ सकता था, क्योंकि इसका मुख्य ध्येय अनुभूति और अभिव्यक्ति, दोनो को स्वच्छ

बनाना है। और छायावाद काल मे ये दोनों ही चीजें अधिकाश रचनाओं में अस्वच्छ थी।"[2] उन्होने प्रयोगवाद के आगमन के आवश्यकता-विश्लेपण के क्रम मे आगे कहा—"छायावाद मे सबसे पहले बड़ी कमी सुस्पष्टता की थी जो सबको अनुभूत होती थी और सुस्पष्टता की दशा मे हिन्दी-कविता ने छायावादोत्तर काल मे प्रगति की। किन्तु, जब प्रगतिवाद के नाम पर साहित्य मे कनस्तर बजाये जाने लगे और साहित्यिक मूल्य-ह्रास होने लगा तब यह आवश्यक हो गया कि हिन्दी मे कला और शैली के हिलते हुए महत्त्व को फिर से स्थिर करने के लिए कोई बड़ा प्रयास किया जाय। यह प्रयास धीरे-धीरे बढ़कर प्रयोगवाद बन गया।"[3] इसके साथ एक स्मरणीय पहलू यह है कि नयी कविता ने मानव-भावना को छायावादी सौन्दर्य के धड़कते हुए पलने से बलपूर्वक उठाकर उसे जीवन समुद्र की उत्ताल लहरों मे पेंग भरने के लिए छोड़ दिया है, जहा वह साहस के साथ सुख-दु ख,आशा निराशा के घात प्रतिघातो मे बढ़ती हुई जीवन के आंधी-तूफानो का सामना कर सके। *अन्तर्वेदना से युक्त होकर सामाजिक कथा के अनुभवो में परिपक्व बन सके।*"[4]

वास्तव में प्रयोगवाद-कविता की जो प्रमुख भावभूमि है, उसमें मुख्य प्रश्न है सर्वांगीण मानवीय विघटन का सामना करने का। यह सर्वांगीणता सर्वथा एक दूसरी ही समस्या है, जिसके सामने व्यक्ति और समाज का प्रश्न है कि वे मूल्य पुन कैसे स्थापित किए जाएं जो व्यक्ति को इतना कायर और दुर्बल बनने से रोके जिससे वह अपने सामाजिक दायित्व से पलायन कर आत्मरति मे ही लीन रहे या सामाजिक कल्याण के नाम पर आने वाले किसी भी अधिनायकवादी आतक के सम्मुख आत्म-समर्पण न कर दे। यह वाद मनुष्य की 'आन्तरिकता' को फिर से प्रतिष्ठित करना चाहता है, उसके असामजस्य को दूर करना चाहता है। चाहे अवचेतन की अन्ध बर्बर पशु-प्रवृत्तिया उसके आन्तरिक सन्तुलन को बिगाड रही हो और चाहे *बाह्यारोपित जनसकुल सामूहिकता उसे कुठित कर रही हो।* इनमे से यदि कोई भी अतिप्रबल है तो हम नये कवि के राग-बोध को विक्षुब्ध पाते है।

मनुष्य की इस आन्तरिकता का सामाजिक महत्त्व क्या है, इसे समझ लेना आवश्यक है। पिछली दो शताब्दियो में विज्ञान और भौतिक साधनो की जितनी उन्नति हुई है, उसके विषय मे कलाकारो, दार्शनिकों और सन्तो के सारे स्वप्न खंडित हो चुके हैं। उन्होंने यह देखा है कि भौतिक विकास करने पर भी मनुष्य मे प्रबल नैतिक निष्ठा नहीं विकसित हो पाई, वह पिछड़ा रह गया और धीरे-धीरे वह बिखरने-सा लगा। यह बिखराव आधुनिक युग की समस्या थी और सबसे अधिक कलाकारों, कवियो, लेखको और चिन्तकों ने इसे अनुभव किया। यह नया यथार्थ था, जिसे मध्य युगीन परम्पराओ मे आक्रान्त रूमानी काव्य दृष्टि ग्रहण कर सकने मे असमर्थ थी। आधुनिक काव्य दृष्टि ने इस नये यथार्थ को ग्रहण करने का आग्रह

किया।

इसमे सन्देह नही कि इस सक्रांतिकाल मे बहुत से कवि ऐसे थे जिन्होंने इस बिखराव को सयमित करने मे सफलता नहीं पाई। उन्होंने कविता को मनोविश्लेषण या मार्क्सवाद आदि उन अन्य एकांगी मतवादों मे बांध दिया जो स्वय इसी बिखराव की उपज थे। लेकिन जिन कवियो का रागबोध अप्रतिहत रहा और जिनमे मानवीय मूल्यों के प्रति निष्ठा रही, वे बराबर इस बिखराव को पराजित कर मानवीयता को पुनः प्रतिष्ठित करने के प्रति आग्रहशील रहे, किन्तु मानव की यह मुक्ति दायित्वहीनता नही है। ऐसा सभव भी नही है, क्योंकि इस वाद के पीछे मात्र शिल्पाग्रह नही, जीवन-आग्रह भी है। जीवन-आग्रह अपेक्षया अधिक ही है। अन्तत. यह मानना उचित होगा कि यह काव्य-प्रवाह छायावाद और प्रगतिवाद का विरोध नहीं, अपितु एक नयी सामाजिकता, एक नये मानव मूल्य-बोध की प्रतिष्ठा की प्रचेष्टा है। प्रयोगवाद की छायावाद और प्रयोगवाद से भिन्नता के आधार बड़े स्पष्ट हैं।

सामान्यत. छायावाद के सिद्धान्त-सूत्र और नामकरण को दर्शनशास्त्र की प्रपत्तियो से महिमा मडित किया गया है। इस वाद का एक बहुश्रुत परिचय है—'प्रकृति विश्वात्मा की छाया है, इसलिए प्रकृति को काव्यगत व्यवहार में लाकर छायावाद की सृष्टि होती है।' समीक्षकों ने इस वाद के मूल में भारतीय संस्कृति और काव्यशास्त्र के प्रभाव भी देखे। ये बातें अपने स्थान पर एक प्रकार से सत्य है। किन्तु, स्पष्ट कारण यह है कि छायावाद अंग्रेजी के Romantism की प्रभाव-पीठिका पर उत्पन्न 'वाद' है। प्रयोगवाद किसी Experimentalism की प्रभाव-पीठिका पर नही, वरन् हिन्दी की अपनी उपज है। छायावाद नामकरण व्यंग्य मे हुआ, प्रयोगवाद आचार्यों के चिन्तन-अनुचिन्तन के बाद दिया गया नाम है। छायावाद द्विवेदी कालीन इतिवृत्तात्मकता का विरोध-रूप है, प्रयोगवाद छायावाद और प्रगतिवाद के विरुद्ध संयुक्त प्रतिक्रिया। छायावाद में स्वच्छन्दतावादी प्रेम-शृंगार और गीतिकता है, प्रयोगवाद मे गैर रोमांटिक प्रेम और गद्य तत्त्व। छायावाद मे सामस्त्य है, प्रयोगवाद में खण्डानुखण्ड का अंकन और सूक्ष्म मूल्यांकन है। छायावाद प्रतिक्रिया प्रसूत और प्रयोगवाद विद्रोह प्रधान काव्य है। छायावाद मे भाव तत्त्व की ओर प्रयोगवाद मे बुद्धि तत्त्व की प्रधानता है। एक स्पष्ट और सीधा-सा अन्तर यह है कि दासता-युग मे जन्म लेने और जीने के बाद भी छायावाद अनुद्वेग और भाव स्थैर्य का काव्यवाद है, जिस कारण यहां 'कामायनी'—जैसा महाकाव्य लिखा जाता है, जबकि प्रयोगवाद स्वतन्त्र भारत का काव्य आन्दोलन होने के बाद भी, उद्वेग और हताश मन.स्थिति प्रधान है। उद्वेग और हताश मन.स्थिति ने ही इसे जीवन-सत्य का अनुसंधान करने और प्रयोग को साध्य मान लेने को विवश-सा कर दिया।

प्रयोगवाद प्रगतिवाद से दो मौलिक अर्थों में भिन्न है, जिनमें प्रथम है, प्रगतिवाद की आर्थिक राजनीतिक-दर्शन के प्रति प्रतिबद्धता और द्वितीय है, शिल्प तथा कला-सम्बन्धी दृष्टिकोण। यह बहुत स्पष्ट बात है कि जो साहित्य द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के दार्शनिक सिद्धांत में विश्वास करता है और वर्ग-रहित समाज की स्थापना करना जिसका चरम लक्ष्य है, उसे ही प्रगतिवादी साहित्य का नाम दिया जा सकता है। स्पष्टतः, प्रगतिवाद मार्क्सवादी आर्थिक राजनीतिक सिद्धांत के प्रति प्रतिबद्ध है। इससे विपरीत प्रयोगवाद किसी राजनीतिक-आर्थिक सिद्धांत से प्रतिबद्ध नहीं। प्रपद्यवाद तो साहित्य और साहित्यकार के सर्वतंत्र स्वतन्त्र होने की घोषणा करता है और धुरिहीनता को इसके प्राण तत्त्व के रूप में स्वीकार करता है। प्रगतिवाद शिल्प-आग्रह को कथ्य-प्रेषण में बाधा मानता है, जबकि प्रयोगवाद कथ्य के साथ शिल्प को एक आवश्यक तत्त्व के रूप में ग्रहण करता है।

निष्कर्षतः, प्रयोगवाद की भावभूमि यही स्पष्ट है। इसने एक ओर छायावाद की 'ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या' के स्थान पर 'जगत् सत्य ब्रह्म मिथ्या' को स्थापित कर, रहस्यात्मक विवृति से स्वयं को और काव्य को दूर रखा तथा छायावादी भाव प्रवणता के स्थान पर बुद्धि तत्त्व का ठोस आधार दिया तो दूसरी ओर प्रगतिवाद की अतिशय स्थूलता के स्थान पर सजीव मानव की मानवता की रक्षा की।

प्रयोगवाद की इस महत्तम स्थिति को एक दूसरे प्रकार से भी समझा जा सकता है। काव्य की सम्पूर्ण प्रभावशीलता एक प्रकार का 'Whole' या सांगोपांग एकात्मक (कोल्हर द्वारा मनोविज्ञान में प्रयुक्त शब्द) अनुभव है। कविता की सृष्टि भी इसी प्रकार के अविभाज्य अभेदात्मक प्रत्यय का ही परिपाक है। अतः नयी कविता ने तीसरा आयाम उत्पन्न किया, यह कहा जाता है। तब इसका अर्थ इतना ही है कि छायावाद के भाव-प्रवण एक आयाम और प्रगतिवाद के निरे विचारमय दूसरे आयाम की अपूर्णता में से तीसरे आयाम की आवश्यकता प्रयोगवाद ने पूरी की।

मानव-सृष्टि न निरी अच्छी है, न निरी बुरी। मनुष्य दुर्बलताओं और सभावनाओं, दुर्बल सकल्प और सबल क्रियाशीलता का एक मिश्रण ही नहीं, अपितु पूंजीभूत चिन्मय इकाई है। इस कारण जो काव्य-रचना साचों के आधार पर चलती है, वह दो आयामों तक ही सीमित रहती है। मनोवगाहन शास्त्र ने मनुष्य के चेतन जीवन के विषय में एक तीसरा आयाम प्रस्तुत किया। इसने मानवी-मन द्वारा निर्मित सौन्दर्य-सृष्टि और प्रतीति के क्षेत्र में नवीन सभावनाएं उत्पन्न की। पहले हास्य करुणा का विरोधी रस माना जाता था, अब हास्यास्पद किन्तु फिर भी करुणाजनक व्यक्ति, प्रसग या दृश्य साहित्य में चित्रित हो जाते हैं। अतः अब यह माना जाने लगा है कि श्रेष्ठता का आयाम मात्र दिक् और काल ही नहीं, परन्तु उसमें 'क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति' वाली अपूर्व वस्तु निर्माण-क्षमता है। प्रयोगवाद अपने प्रयोग द्वारा इस अपूर्व निर्माण-क्षमता की प्राप्ति करता है।

इस प्रकार छायावाद-प्रगतिवाद-प्रयोगवाद सर्वथा भिन्न पट भूमियों पर उपजे-बढ़े हैं जिनमें वैषम्य का होना अस्वाभाविक नहीं है। इस ध्रुवान्तर के अनेक साहित्यिक, राष्ट्रीय, अन्तरराष्ट्रीय, सामाजिक, राजनीतिक और दार्शनिक कारण हैं।

प्रयोग :: अर्थ : उपयोगिता : परम्परा

प्रयोगवाद तथोक्त प्रपद्यवाद मूलत. प्रयोगाश्रित काव्य-धारा है। अतः यह स्वाभाविक है कि 'प्रयोग' शब्द का अर्थ, उपयोगिता एवं परम्परा की दृष्टि से परीक्षण किया जाय। यह शब्द मूलतः विज्ञान के अन्वेपण-कार्यविधि से लिया गया है। इसकी प्रकृति मे यह तथ्य निहित है कि किसी भी वस्तु की मान्य प्रकृति (accepted nature) का ज्ञान प्रयोग द्वारा पुनः अनुभव किया जा सकता है और नयी उपलब्धियां प्राप्त की जा सकती हैं। दूसरे शब्दों मे, प्रयोग का उद्देश्य है, मान्य सत्य का परीक्षण और परीक्षण द्वारा सत्य के नये आयामो का अन्वेपण। इस प्रकार प्रयोग परीक्षण एवं विभिन्न तत्त्वो के अन्वेषण की विधि है। इन्ही परीक्षणो के आधार पर वह किसी निष्कर्ष पर पहुचता है। ये निष्कर्ष ही उपलब्धियों के रूप मे कार्य करते हैं। इन्हीं कारणो से प्रयोग किसी भी सत्य को अन्तिम सत्य नही मानता। सर्वमान्य सत्य की भी परीक्षा की जा सकती है, उसको नये संदर्भ मे रखकर उसका वास्तविक तथ्य जाना जा सकता है। जिस सीमा तक इस वैज्ञानिक दृष्टि को हम स्वीकार करते हैं, उस सीमा तक हम प्रयोग के समर्थक कहे जा सकते हैं। इस प्रकार प्रयोग की मूल प्रवृत्ति परम्परागत स्थापनाओं से आगे बढ़कर नयी दिशाओं की स्थापना है। साथ ही, प्रयोग यथार्थ को जीवन के परिप्रेक्ष्य मे देखने का साधन है। प्रयोग की वास्तविक दृष्टि विवेक के आधार पर विकसित होती है। प्रयोग मे निम्न स्पष्ट दिशाए होती है—(क) प्रयोग किसी भी सत्य को अन्तिम सत्य नही मानता, (ख) किसी वस्तु का व्यवहार (behaviour) उसकी प्रकृति (nature) निर्धारित करती है, किन्तु प्रकृति परिस्थितियों द्वारा शासित होती है, (ग) प्रयोग चमत्कार को कोई स्थान नही देता, क्योंकि चमत्कार विवेक को नष्ट करके अन्धविश्वास को प्रश्रय देता है, (घ) क्षण-प्रतिक्षण की अनुभूति का महत्त्व प्रयोग को गतिशीलता प्रदान करता है।[5]

कोई लेखक प्रयोग क्यों करता है, इस प्रश्न का उत्तर फिलिप टायनबी ने अपने निबन्ध 'प्रयोग और उपन्यास का भविष्य' मे इस प्रकार दिया है : "आज का उपन्यासकार प्रयोग इसलिए करता है कि उसका विश्वास है कि उसने हमारी वर्तमान स्थिति के सम्बन्ध मे कुछ ऐसे सत्यो को आयत्त किया है जिनकी अभिव्यक्ति किसी अन्य ने अब तक नही की है। यह उत्तर प्रथम दृष्टि में बहुत ही सतही प्रतीत होगा, क्योंकि कहा जा सकता है कि हर युग के गभीर उपन्यासकार का यही उद्देश्य रहता

आया है और इस उत्तर मे कोई नयी बात नहीं है, किन्तु मेरे उत्तर में उपेक्षाकृत नवीनता यह है कि इसमे 'हमारी वर्तमान स्थिति' पर विशेष ज़ोर दिया गया है। हमारे युग के पक्ष या विपक्ष मे चाहे जो कुछ भी कहा जाय, किन्तु इतना निर्विवाद है कि यह उन युगों मे से नही है, जिनसे हम सम्मान पूर्वक या स्वाभाविक रूप से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर सकते हैं।"[6] जो बात यहा उपन्यास के सम्बन्ध मे कही गई है, वही कविता पर भी लागू होती है। कविता मे भी प्रयोग की आवश्यकता इसलिए पड़ती है कि एक विशेष युग की विशेष परिस्थिति मे कवि कुछ ऐसे तथ्यो की उपलब्धि करता है, जिन्हे पूर्ववर्ती युगो के कवि अपने युग की सीमाओ के कारण नही कर सके थे। युग परिवर्तन के साथ जीवन के भौतिक उपकरणो मे तो परिवर्तन होना ही है, वे भौतिक परिवर्तन मनुष्य के मन, उसके रागात्मक सम्बन्ध और जीवन के प्रति उसकी दृष्टि को भी बदल देते है। अत पुरानी रीति-नीतियो और सम्बन्धो मे बधा रहना उसके लिए सभव नही रह जाता। ऐसी परिस्थिति मे परिवर्तित जीवन-दृष्टि वाले कवि की अनुभूतिया और सौंदर्य-बोधात्मक सवेदनाए पूर्ववर्ती युगो के कवियो की अनुभूतियो और सवेदनाओ से भिन्न होनी है। परिवर्तित परिप्रेक्ष्य मे चेतना की सीमाए भी विस्तृत हो जाती हैं, ज्ञान-विज्ञान के असीम क्षेत्र सामने आए हुए रहते हैं, जिनके कारण नये नैतिक मूल्य निर्मित होते हैं या निर्माण के क्रम मे रहते है। इस स्थिति मे कवि का यह दायित्व होता है कि वह युगानुरूप अपनी चेतना का विस्तार करे और नये जीवन-मूल्यो की पहचान कर उन्हे आत्मसात करके, इस प्रकार उनकी अभिव्यक्ति करे कि उसका कथ्य दूसरो तक अपने वास्तविक रूप मे सम्प्रेषित हो सके। इस तरह अपने कथ्य या अनुभूत सत्य को सहज प्रेषणीय बनाने के लिए ही कवि अभिव्यक्ति के साधनो मे प्रयोग करता है। स्पष्ट है कि जब कवि के मन मे नवीन कथ्य को, जो उसका अनुभूत सत्य होता है, अभिव्यक्त करने की व्याकुलता उत्पन्न होती है, और पूर्ववर्ती काव्य पद्धति उस अनुभूत सत्य को व्यक्त करने मे असमर्थ हो जाती है, तो कवि अभिव्यक्ति के नये माध्यमो, नयी भाषा, नये शिल्प की खोज करता है। इस कारण प्रयोग काव्य के अन्त. बाह्य दोनो रूपों मे होते है, किन्तु बाह्य रूप मे किए गए प्रयोगो पर ही पाठको की दृष्टि पहले जाती है, इस कारण सामान्यत अभिव्यजना की नवीन पद्धतियो को ही प्रयोगशीलता मान लिया जाता है। इन नवीन पद्धतियो मे से जो व्यापक रूप से स्वीकृत कर ली जाती है उन्हे ही सफल प्रयोग मान लिया जाता है और बाद मे तो लोग उनके इतने अभ्यस्त हो जाते है कि उन्हे प्रयोग के रूप मे देखते ही नही, किन्तु पद्धति सम्बन्धी कुछ प्रयोग ऐसे भी होते है जिनका अनुकरण करना सरल नही होता। ऐसे प्रयोगकर्त्ता कवियो को ही सामान्यतः असली प्रयोगवादी माना जाता है। आचार्य श्री नलिन विलोचन शर्मा और उनके प्रभामण्डल (नकेन) के कवियों की अवस्था ऐसी ही है। अंग्रेजी मे टी० एस०

इलियट पहले प्रकार के प्रयोग शील कवि हैं जिनकी अभिव्यजना-पद्धति को वहा के परवर्ती कवियो ने बहुत-कुछ स्वीकृत कर लिया, पर एजरा पाउण्ड और कमिग्ज के प्रयोग आगे नही चले। जेम्स ज्वायस के उपन्यासो के प्रयोगो के सम्बन्ध मे भी यही बात दिखाई पड़ती है।

अंग्रेजी के प्रसिद्ध आलोचक जॉन लिविंगस्टन लोवेस के अनुसार जब काव्य रूढ़िया निर्जीव हो जाती है तो उस समय कवियों के सामने तीन ही विकल्प होते हैं—(1) या तो वे उन रूढियो को अपना कर ग्रामोफोन की तरह उन्हे दुहराते जाते हैं, (2) या अपनी रचनात्मक प्रतिभा द्वारा उस मृत और खोखले रूपाकार मे नयी शक्ति और नया जीवन भरकर उसका स्वरूप भी परिवर्तित कर देते है, (3) अथवा वे विद्रोह करके 'पुराने सिक्को' को बिल्कुल अस्वीकार कर देते हैं और 'नये सिक्कों' का निर्माण करने लगते है। डॉ० एच० वी० रूथ ने प्रयोग की अनिवार्यता बताई है कि 'कला को सदैव नवीन रूप देते रहना चाहिए। उसका रचनात्मक प्रभाव आश्चर्य तत्त्व पर निर्भर करता है। एक बार जब कलात्मक अभिव्यक्ति की पद्धति की ताजगी या नवीनता समाप्त हो जाती है तो पाठक या सहृदय उससे विमुख होकर अपने दैनिक कार्य मे लग जाता है। कला या साहित्य में वह एक नयी दृष्टि खोजता है, पर ऐसी बासी अभिव्यक्ति मे उसे केवल स्थूलरूप के ही दर्शन होते हैं। इसलिए उसकी महान् पुस्तक में उसे नवीनता द्वारा चकित कर देने की शक्ति होनी चाहिए ताकि पाठक प्रारम्भ मे ही आगे पढ़ने के लिए उत्सुक हो जाय और उसे विश्वास हो जाय कि अनुभूतिया व्यापक और गम्भीर कवियो के निर्माण और कारयित्री प्रतिभा की क्रीड़ा की सामग्री मात्र है।'[7]

यह कहना स्वाभाविक होगा कि विश्वसाहित्य मे सर्वत्र, सभी युगो और कालो मे प्रयोग होते रहे हैं। हिन्दी काव्य साहित्य मे भी यह परम्परा हम देखते हैं। सम्पूर्ण सन्तकाव्य सामन्ती लौकिक काव्य की प्रवृत्तियो और स्थूल शास्त्रीय रीतियो के विरुद्ध विद्रोह का काव्य है। यह विद्रोह केवल काव्यगत विद्रोह नही, बल्कि सामाजिक और आध्यात्मिक विद्रोह की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है। आध्यात्मिक एव धार्मिक कविता ने जो नया मार्ग निर्मित किया था, वह लौकिक भावना वाले कवियो के लिए अधिक काम का नही था। अतः रीतिकाल मे लौकिकता की प्रवृत्ति धार्मिक काव्य-प्रवृत्ति को पीछे हटाकर फिर प्रबल हो गई। 20वी शताब्दी के प्रारम्भ मे पुनः जागरण के आन्दोलनो के साथ रीतिकालीन काव्य रूढ़ियो के विरुद्ध विद्रोह हुआ, जिसका सक्रमणकालीन स्वरूप द्विवेदी युगीन कविता की भाषा, छन्द-योजना और विषय वस्तु के चुनाव मे दिखाई पड़ता है। द्विवेदीकाल की इति वृत्तात्मकता और स्थूलता के प्रति छायावाद ने विद्रोह किया, किन्तु आगे चलकर उनके रूप, शिल्प और विषय की अपनी विशेष रूढ़िया स्थिर हो गईं। अतः सन् 1935 ई० के बाद छायावाद के विरुद्ध भी विद्रोह का

स्वर उठने लगा जो आगे चलकर प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के रूप मे विकसित हुआ।

प्रयोगवाद : प्रयोगशील : प्रपद्यवाद

प्रयोगवाद की ऐतिहासिकता को डॉ० नामवर सिंह के शब्दो मे इस प्रकार देखा जा सकता है—"हिन्दी कविता मे प्रयोगवाद की चर्चा 'तार सप्तक' कविता-सग्रह 43 ई० से शुरू हुई, 'प्रतीक' पत्रिका (जुलाई 47-52 ई०) से उसे बल मिला और 'दूसरा सप्तक' (51 ई०) से उसकी स्थापना हुई। इसका अर्थ यह नही कि इन सबमे जितनी कविताए छपी, सभी प्रयोगवादी हैं। कविता तो 'प्रतीक' मे मैथिली शरण गुप्त, सुमित्रानन्दन पंत और नवीन मे लेकर रामविलास शर्मा और भवानी प्रसाद मिश्र तक की रखी गई है, लेकिन प्रयोगवाद सम्बन्धी जो औसत धारणा बनी है, वह इन सबके बावजूद केवल अज्ञेय, गिरिजा कुमार माथुर, प्रभाकर माचवे, मुक्ति बोध, नेमिचन्द्र जैन, भारत भूषण, शमशेर, रघुवीर सहाय, धर्मवीर भारती, नरेश मेहता आदि की रचनाओ के आधार पर।"[8] लेकिन यह वाद, आधुनिक हिन्दी के अन्य काव्यवादो की तुलना मे, नामकरण को लेकर, अपेक्षाकृत अधिक द्वन्द्व और सघर्ष का केन्द्र बना। एक अर्थ मे उपयुक्त नामकरण इस वाद की समस्या हो गई। इसे प्रयोगवाद, प्रयोगशील और प्रपद्यवाद (नकेनवाद) आदि विभिन्न रूपो में नामाकित किया गया। यदि हम छायावादोत्तर काव्य-प्रवृत्ति प्रगतिवाद को छोडकर सप्तक की काव्य-परम्परा पर ध्यान देते हैं तो देखते हैं कि इस काल की सम्पूर्ण काव्य-साधना को इस काल के कवि ही नही, समर्थ आलोचक भी भिन्न-भिन्न नामो से पुकारते हैं। छायावादी आलोचक की दृष्टि मे यह 'प्रयोगवाद' जायसी और कबीर साहित्य के मार्मिक अध्येता डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत के मत मे 'प्रयत्नज नवीनता वाली वर्तमान काव्यधारा', डॉ० जगदीश गुप्त की स्थापना-आधार पर यह 'नयी कविता' है। नलिन प्रभा मडल के कवियो ने इसे 'प्रपद्यवाद' या 'नकेनवाद' माना है। नामकरण का यह पार्थक्य मूलतः 'प्रयोग' को देखने और ग्रहण करने की स्थिति पर निर्भर है। यह विषय यथास्थान स्पष्ट हो सकेगा। प्रयोग को देखने और ग्रहण करने की इसी स्थिति के कारण इस वाद के साथ दो नाम 'प्रयोगशील' और 'प्रपद्यवाद' सलग्न हुए। मौलिक स्थिति यह है कि 'प्रयोगवाद' मुख्यत दो शाखाओ मे विभक्त हुआ—प्रयोगशील और प्रपद्यवाद। हिन्दी के सुधी आलोचको ने इस विभाजन को उसके वास्तविक रूप मे स्वीकार न कर कवियो के व्यक्तित्व-सघर्ष के रूप मे देखने की चेष्टा की। उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं दो कथन—"इन नामकरणो की भ्रातियों को स्पष्ट करने के क्रम मे यह कह देना असगत नही होगा कि यहा न तो वीरगाथा काल व रीतिकाल जैसे नामकरणो की समस्या है और न यहा इस काल की मूलभूत प्रवृत्ति का अनुसधान

कर उचित नामों को प्रकट करना ही है। यहां वास्तविकता इस बात में है कि इस युग की चेतना वैयक्तिकता की होड़ में खंडित-सी है। इस युग की मूल प्रवृत्ति स्वतः स्पष्ट है जिसे कोई भी झुठला नहीं सकता। कहने को बाध्य होना पड़ता है कि मात्र गुटबन्दी के आधार पर अनेक नामों की सृष्टि की जाती है और वैयक्तिकता को उभारा जाता है।"[9]—"जिन प्रयोगवादी कवियों को सप्तक में स्थान नहीं मिल सका उनमें से कुछ ने प्रपद्यवाद नाम से एक अलग शिविर बनाया। इनमें से तीन प्रमुख कवियों—नलिन विलोचन शर्मा, केसरी कुमार और नरेश की कविताओं का संकलन नकेन (सन् 1956 ई०) नाम से प्रकाशित हुआ।"[10] मेरा विनम्र निवेदन है कि यह वाद न तो वैयक्तिकता के उभार के कारण उत्पन्न हुआ और न ही यह शिविर से छटे लोगों की अमरता सुख की कामना से उत्पन्न कोई चेष्टा है। यह वाद अन्य काव्य-आन्दोलनों की भाँति निश्चित रूपेण एक साहित्यिक अनुष्ठान है, जिसकी पुष्टि इसके द्वादश सूत्रों की स्वतन्त्र प्रस्तुति से होती है।

मौलिक तथ्य यह है कि प्रपद्यवाद या नकेनवाद नाम-ग्रहण तार सप्तक के पुरोधा कवि अज्ञेय की प्रथम और द्वितीय सप्तक की भूमिकाओं के कारण है। इस बात का मूल आधार है—प्रयोग को साध्य-रूप में स्वीकार करना। अज्ञेय ने प्रयोग को साध्य-रूप में स्वीकार नहीं किया, जबकि प्रपद्यवादियों ने प्रयोग को चरम साध्य माना। अस्तु, अज्ञेय और उनके मण्डल के कवि प्रयोगशील हैं, प्रयोगवादी नहीं। सभी प्रयोगशील यह कहते हैं कि उनके प्रयोगों का उद्देश्य आत्माभिव्यक्ति है। किन्तु, जो लेखक प्रयोगशील नहीं हैं, वे भी तो अपनी रचना का उद्देश्य आत्माभिव्यक्ति ही बताते हैं। यदि पुरानी पद्धतियों से भी आत्माभिव्यक्ति हो जाती है, तो फिर नये प्रयोगों की आवश्यकता क्यों पड़ती है? इस प्रश्न का उत्तर अज्ञेय जी ने 'तार सप्तक' में अपने वक्तव्य में इस प्रकार दिया है—"कवि क्रमशः यह अनुभव करता आया है कि जिन क्षेत्रों में प्रयोग हुए हैं, उनसे अब आगे बढ़कर उन क्षेत्रों का अन्वेषण करना चाहिए जिन्हें अभी छुआ नहीं गया था या जिनको अभेद्य मान लिया गया है। भाषा को अपर्याप्त पाकर विराम संकेतों से, छोटे-छोटे टाइप से, सीधे या उल्टे अक्षरों से, लोगों और स्थानों के नामों से, अधूरे वाक्यों से सभी प्रकार के इतर साधनों से कवि यह प्रयत्न करने लगा कि अपनी-अपनी उलझी संवेदनाओं की सृष्टि को पाठकों तक अक्षुण्ण पहुंचा सके।" अज्ञेय जी के इस वक्तव्य ने कवि, काव्य और प्रयोगवाद के वास्तविक अर्थ और उद्देश्य को लाभ के स्थान पर हानि पहुंचाने का ही कार्य किया। इसके तीन कारण हैं—अज्ञेयजी का मानना है कि (क) कवि को प्रयोग की अपेक्षा अनुसंधान करना चाहिए, (ख) कवि उलझी संवेदना को अपने पाठकों तक पहुंचाना चाहता है, (ग) भाषा और अभिव्यक्ति-सम्बन्धी उसके प्रयोग, उसकी उलझी संवेदना को पाठक तक पहुंचाने के उपाय हैं। इन तीन कारणों के सम्बन्ध में यह कहना यथेष्ट होगा कि सच्चे प्रयोगवादी कवि का

यह उद्देश्य नहीं होता कि जिन क्षेत्रों में अभी तक प्रयोग नहीं हुए हैं, उनका अन्वेषण होना चाहिए। ऐसा मान लेने पर यही अर्थ निकलेगा, कि प्रयोगवादी प्रयोग के लिए प्रयोग करते हैं और अपने प्रयोग को और भी अधिक प्रभावशाली तथा चमत्कारपूर्ण बनाने के लिए उन्हें प्रयोग के क्षेत्र (विषय, भाव और शिल्प तीनों क्षेत्रों में संयुक्त रूप से) का अनुसंधान करते रहना चाहिए। हम मानते हैं कि प्रयोग के ये उद्देश्य नहीं होते। इसी प्रकार कवि उलझी सवेदनाओ की अभिव्यक्ति नहीं करता। भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र सामान्यत: यह मानते हैं कि कवि की अनुभूति, सवेदना जितनी व्यापक और तीव्र होगी, काव्य उतना सरल और सार्वजनीन होगा। उलझी सवेदना की स्थिति में कवि-हृदय में भावछवि निर्मित नही होगी और तब अभिव्यक्ति भी असभव होगी। अस्तु, निष्कर्ष यह है कि अन्वेषण का कार्य कवि का नही, शास्त्र और विज्ञान का क्षेत्र है तथा सच्चा कवि अपने प्रयोगों-द्वारा उलझी हुई सवेदना की सृष्टि नही करता, बल्कि जगत् की जटिलताओ और उलझी हुई संवेदना के बीच सुलझे हुए सत्य का प्रकाश उत्पन्न करता है। काव्य मे अन्वेषण होता है, परन्तु इसका अर्थ कुछ और है। वस्तुत काव्य मे प्रयोग अथवा अन्वेषण का यह अर्थ होता है कि कवि ने कुछ ऐसे सत्यो को आयत्त किया है, जिन्हें वह परम्परागत पद्धति अथवा भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त नही कर सकता। इसलिए वह नये माध्यम का सहारा लेता है। अज्ञेय जी ने 'तार सप्तक' मे उपलब्ध सत्य की, जो प्रयोग के मूल मे निहित होता है, कही चर्चा नही की। इसके विपरीत उन्होंने प्रयोगशीलता को ही कसौटी मान लिया है, जिसका अर्थ यह होता है कि वे 'प्रयोग के लिए प्रयोग' को ही अपना साध्य मानते है। स्पष्ट है कि अज्ञेय जी राही हैं। अन्वेषण के लिए इनके पास अन्वेषी की दृष्टि नही, केवल दृष्टिकोण है। 'दृष्टिकोण' धारण करने के कारण ही ये प्रयोगवादी कहे गए।

दूसरे सप्तक मे अज्ञेय जी ने अपनी स्थिति सुधारते हुए लिखा—"तो प्रयोग अपने आप मे इष्ट नही है; वह साधन और दोहरा साधन है। क्योंकि एक तो वह उस सत्य को जानने का साधन है, जिसे कवि प्रेषित करता है, दूसरे वह उस प्रेषण की क्रिया को और उसके साधनो को जानने का भी साधन है। अर्थात् प्रयोग-द्वारा कवि अपने सत्य को अधिक अच्छी तरह व्यक्त कर सकता है। वस्तु और शिल्प दोनो क्षेत्रो मे प्रयोग लाभप्रद होते है।" 'तार सप्तक' की तुलना मे 'दूसरा सप्तक' मे परिवर्तनकारी विषय है कि अज्ञेय जी ने इसमे 'शिल्प के प्रयोग' (राह का अन्वेषण) की ही नहीं, वस्तु के प्रयोग की बात भी कही है। इस परिवर्तन के बाद भी उनका आग्रह वस्तु के भीतर कवि के अनुभूत सत्य पर उतना नही है, जितना वस्तु में किए जाने वाले प्रयोग पर है। वस्तु और शिल्प दोनो मे किए जाने वाले प्रयोगो की बात के पीछे मौलिक दृष्टि और उसके द्वारा उपलब्ध नये सत्य

की प्रेरणा काम करती है। इस ओर उनका ध्यान नहीं गया है। इसके विपरीत यह मानते हैं कि प्रयोग द्वारा ही कवि अपने सत्य को अच्छी तरह जान सकता है। प्रयोग द्वारा अपने उपलब्ध सत्य को दूसरो तक पहुंचाने में सुविधा होती है, यह तो ठीक है, पर उनसे कवि अपने सत्य को अच्छी तरह जान सकता है, यह ठीक नहीं। ठीक ही नही, इसमे विपरीत अर्थ ध्वनित होता है, कारण स्पष्ट है कि जब नये प्रयोगो द्वारा नये सत्यों का अन्वेषण होता है तो फिर कवि के अपने सत्य को जानने की बात कहां से उठती है? आधारभूत तथ्य यह है कि सत्य का बोध पहले होता है, प्रयोग बाद मे। सत्य को पहले जाने बिना वह प्रयोग करेगा ही क्यों? यदि अज्ञेय जी के उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि कवि का वस्तु-सम्बन्धी नये क्षेत्रो और नयी दिशाओं मे पहुचने का प्रयत्न भी प्रयोग ही है, तो बात दूसरी है। पर, वस्तु-सम्बन्धी नयी दिशाओं मे पहुंचने और नये सत्यो की उपलब्धि करने के बाद ही कवि अभिव्यक्ति सम्बन्धी नये प्रयोग करता है। इसलिए यह कथन भ्रामक है कि प्रयोग-द्वारा कवि अपने सत्य को अच्छी तरह जान सकता है।

प्रयोग-सम्बन्धी अज्ञेय जी की स्थापना प्रस्तुत वक्तव्य-द्वारा स्वत. स्पष्ट हो जाती है—"प्रयोग का महत्त्व कर्त्ता के लिए चाहे जितना हो, सत्य की खोज की लगन उसमे चाहे जितनी उत्कट हो सहृदय के लिए यह सब अप्रासंगिक है। पारखी मोती परखता है, गोताखोर के असफल उद्योग नही। गोताखोर का परिश्रम या प्रयोग अगर प्रासंगिक हो सकता है तो मोती सामने रखकर ही—'इस मोती को पाने मे इतना परिश्रम लगा' बिना मोती पाये इसका महत्त्व नही है। स्वय वह भी (जो सत्य की शोध मे प्रयोग करता है) उस सत्य को अधिक महत्त्व देता है, नही तो उस शोध मे इतना सलग्न नही होता।"[11]

निश्चित है कि, अज्ञेय जी का प्रयोग के प्रति ममत्व नही, वे मूलत. प्रयोगशील हैं। वे हैं कि बार-बार यह घोषणा कर रहे हैं कि वे प्रयोगवादी नही, प्रयोगशील हैं और आलोचक-समीक्षक हैं कि उनकी अस्वीकृति के बाद भी उन्हें प्रयोगवादी कहते चले जा रहे हैं। 'प्रयोग' को उपलब्धि की तुला पर तोलना उनकी इसी इच्छा का परिणाम है, जिसकी आलोचना प्रपद्य दर्शनकार केसरी कुमार ने इन शब्दों मे की है—"प्रयोग-सलग्न कवि की तुलना गोताखोर से भी करना विशेष माने नहीं रखता। गोताखोर अपरिचित सागर मे परिचित मोती निकालता है (जिसे पुराने जमाने मे कभी लहरों ने किनारे पर फेंका होगा और जिसे देखकर आदमी ललचा होगा) कवि परिचित वस्तु मे अपरिचित सम्बन्ध लाता है। गोताखोर का मोती पाना बहुत कुछ भाग्य पर निर्भर करता है, कवि का शक्ति और केन्द्रीकरण पर। मोती बहुत कुछ मुस्तकिल है, काव्य के भाव मूल्य और व्यजना के उपादान नही, इसलिए प्रयोगवादी मानता है कि काव्य का अभिप्रेत वह प्रयोग ही है, जिसके रसायन मे भाव और व्यजना एक स्थिति ग्रहण कर लेते हैं। और

इस प्रकार प्रयोग को साधन नहीं, साध्य मानने के कारण प्रयोगवाद एक दर्शन हो जाता है।"[11]

वस्तुतः 'साध्य' रूप में प्रयोग का यह महत्त्वीकरण ही प्रपद्यवाद को समस्त 'प्रयोग-परम्परा' से भिन्न बना देता है। प्रपद्यवादी दर्शनकार इस सन्दर्भ में गौरवान्वित होते हुए उद्भावना देते हैं—"सही है कि सभी युगों में प्रयोग हुए हैं और कहीं-कहीं आज के अनेक प्रयोगों से पुराने प्रयोग ज्यादा समर्थ हुए हैं पर प्रयोग को साध्य-रूप में अभी-अभी स्वीकार किया गया है। नकेन में प्रयोग की स्थिति निश्चित है।"[12]

प्रकारान्तर से हम कह सकते हैं कि अज्ञेय जी के वादों की दुर्बलता की वजह के कारण बिहार के तीन कवियों—नलिन विलोचन शर्मा, केसरी कुमार तथा नरेश ने मिलकर अज्ञेय द्वारा 'प्रयोगवाद' संज्ञा के प्रतिपादन का विरोध किया और 'प्रयोगवाद' की सार्थकता का समर्थन किया। उनका आरोप यह था कि 'सप्तकों' में जिस प्रकार की सैद्धान्तिक व्याख्या हुई है, वह प्रयोगशील की व्याख्या थी, प्रयोगवादी की नहीं, और इन 'हिन्दी के सुधी समीक्षकों' ने अज्ञेय की उपर्युक्त व्याख्या को प्रयोगवादी व्याख्या मान लिया, अतः इन तीनों कवियों ने, जैसे विशुद्ध प्रयोगवाद की रक्षा के हेतु, नरेश द्वारा सम्पादित 'प्रपाक' नामक पत्रिका में सन् 1952 ई० में 'प्रपद्य दश-सूत्री' प्रकाशित की जिसमें पहली बार प्रयोगवाद को प्रयोगशीलता से भिन्न करके देखा गया। "नये काव्य के सम्पूर्ण दायित्व को स्वीकार करने के लिए इन कवियों ने अपने 'वाद' को प्रपद्यवाद की संज्ञा प्रदान की और नाम-संकेत के लिए 'नकेनवाद' (जो तीनों कवियों के नामों के आद्याक्षरों से निर्मित है) का अभिधेय स्वीकार किया।"[13] अतएव यह स्पष्ट है कि प्रपद्यवाद 'प्रयोगवाद का दर्शन' है, क्योंकि यह विचार तथा अभिव्यक्ति, आवेग तथा आत्मप्रेषण, तत्त्व तथा रूप, इनमें से किसी में अथवा सभी में प्रयोग को आवश्यक मानता है। प्रयोग के सम्बन्ध की उसकी धारणा अत्यन्त ही स्पष्ट और सुनिश्चित है। अज्ञेय जी ऐसा कुछ दे नहीं सके थे। अन्त में प्रथम तार सप्तक के उनके वक्तव्य-अंश को उद्धृत कर इस विषय को समाप्त किया जायेगा। उनका यह वक्तव्य अंश प्रयोग के उद्देश्य के सम्बन्ध में है। "जो व्यक्ति का अनुभूत है, उसे समष्टि तक कैसे पहुँचाया जाय—यह पहली समस्या है, जो प्रयोगशीलता को ललकारती है। इसके बाद इतर समस्याएँ हैं—कि वह अनुभूत ही कितना बड़ा या छोटा, घटिया या बढ़िया, सामाजिक या असामाजिक, ऊर्ध्व या अन्तः या बहिर्मुखी है—इत्यादि।" अज्ञेय जी के इस वक्तव्य में स्पष्ट उलझाव है। इसके दो कारण हैं। प्रथम यह कि अभिव्यंजना-सम्बन्धी प्रयोग उनकी पहली समस्या है। द्वितीय कि वे यह मान लेते हैं कि प्रयोग-द्वारा किसी महान् सत्य की उपलब्धि असंभव है इस प्रकार प्रथम और दूसरे सप्तक में अज्ञेय जी के व्यक्तित्व में विरोधाभास है।

प्रपद्यवाद मे ऐसा विरोधाभास नही है। एक ओर इत-उत की समस्या और दूसरी ओर प्रयोग के प्रति एकनिष्ठ समर्पण—फिर भी अज्ञेय मण्डल को ही प्रयोगवादी मानने की आलोचकों-समीक्षकों की मानसिकता ! वस्तुत. यह समीक्षा-क्षेत्र मे अधन्यता की स्थिति है। यह तो वही बात हुई कि तुम महान् हो या नही, इसे स्वीकार करो या नही—हम तो तुम्हें महान् कहेंगे ही। मेरा यह निश्चित मत है कि प्रपद्यवाद ही प्रयोगवाद है, और उनका प्रपद्यवाद का दर्शन प्रयोगवाद का दर्शन है।

'प्रपद्यवाद' के व्यक्तित्व के अनुशीलन के पूर्व इस पर विचार कर लेना स्वाभाविक होगा कि तार सप्तको मे प्रयोग स्थापनाएं क्या हैं और प्रपद्यवाद अपना विरोध किस रूप मे प्रकट करना चाहता है? ये स्थापनाएं हैं—(i) कविता प्रयोग का विषय है। कवि-कर्म की मौलिक समस्या है साधारणीकरण और निवेदन (Communication) की समस्या। और कवि को प्रयोगशीलता की ओर प्रेरित करने वाली सबसे बड़ी समस्या यही है: 'व्यक्ति सत्य' को 'व्यापक-सत्य' बनाने का सनातन उत्तरदायित्व आज कवि भी निभाना चाहता है। इसलिए प्रयोग। (ii) प्रयोग सभी काल के कवियों ने किए हैं, यद्यपि किसी एक काल मे किसी विशेष दिशा में प्रयोग करने की प्रवृत्ति स्वाभाविक है। आज का प्रयोग-शील कवि आधुनिक जीवन की एक बहुत बड़ी समस्या का सामना कर रहा है—वह भाषा की क्रमशः संकुचित होती हुई सार्थकता की केंचुली फाड़कर उसमे नया, अधिक व्यापक, अधिक सारगर्भित अर्थ भरना चाहता है; इसलिए कि व्यक्ति सत्य को व्यापक सत्य बनाने का सनातन उत्तरदायित्व अब भी निभाना चाहता है, पर देखना यह है कि साधारणीकरण की पुरानी प्रणालियां जीवन की ज्वाला-मुखी से बाहर आते हुए लावा से भरकर और जमकर रुद्ध हो गई हैं, प्राण-संचार का मार्ग उसमें नही है; भाषा को अपर्याप्त पाकर विराम संकेतों, अंकों और सीधी-तिरछी लकीरो से, छोटे-बड़े टाइप से, सीधे या उल्टे अक्षरो से—सभी प्रकार के इतर साधनो से कवि उद्योग करने लगा कि अपनी उलझी हुई संवेदना को पाठको तक अक्षुण्ण पहुंचा सके। (iii) कोई भी स्वान्तः सुखाय नहीं लिखता या लिख सकता। अभिव्यक्ति मे एक ग्राहक या श्रोता या पाठक अनिवार्य है। भाषा उनके (कवि और ग्राहक या पाठक या श्रोता के) व्यवहार का माध्यम है और उसकी माध्यमिकता इसी मे है कि वह एक से अधिक को बोधगम्य हो, अथवा वह भाषा नही है। जीवन की जटिलता को अभिव्यक्त करने वाले कवि की भाषा का किसी हद तक गूढ़, 'अलौकिक' अथवा दीक्षा-द्वारा गम्य (esoteric) हो जाना अनिवार्य है, किन्तु यह उसकी शक्ति नही, विवशता है, धर्म नहीं, आपद धर्म है। (iv) प्रयोग का कोई वाद नही है। प्रयोग अपने आप मे इष्ट या साधन नही है। (द्रष्टव्य, पसुपशा)।

तार सप्तक की इस स्थापना के द्वारा अज्ञेय जी की मानसिकता उलझी संवेदना और साधारणीकरण के दो खण्डों के बीच आ फंसती है। प्रयोग को साधन मान लेने के कारण उनकी स्थिति और भी अधिक विकट हो जाती है। प्रयोग को साधन मान लेने के कारण उनका काव्य स्वच्छंद काव्य नही रह पाता। प्रयोगवाद का अभिप्रेत मुक्त नहीं, स्वच्छंद काव्य है, जिसमे वस्तुगत दृष्टिकोण के अनुसंधान की बात होती है। इस वाद मे भाव और व्यंजना का स्थापत्य होता है, जहां अन्य आग्रह महत्व नहीं रखते। यह अनुसधान ही नही, आविष्कार को महत्व देता है और इसे ही मानने के कारण यह सर्वतंत्र स्वतंत्र हो जाता है।

प्रपद्यवाद की विचार सरणि द्रष्टव्य है—

(i) प्रपद्यवाद प्रयोग को साध्य मानता है और भाव तथा भाषा, विचार तथा अभिव्यक्ति, आवेश तथा आत्म प्रेषण, भाव तथा रूप, इनमें से किसी मे अथवा सभी में प्रयोग को आवश्यक समझता है। इसके अनुसार कविता न तो भावों, विचारों अथवा दर्शनों से लिखी जाती है और न ही छन्दों, अलंकारों आदि से, अपितु वह शब्दों से लिखी जाती है। प्रपद्यवाद मानता है कि कविता की वास्तविक प्रेरणा वस्तु-स्थिति से मिलती है। वस्तु द्रष्टा के भीतर भाव-छवियां उत्पन्न करती है। उन स्थितियों के साथ द्रष्टा की संगतियां मिलकर एक दृष्टि-बिन्दु उत्पन्न करती है और जब उस बिन्दु से कवि वस्तु को देखता है, तब वह कवि के नये संश्लेष के रूप मे दिखाई पड़ती है। इस प्रकार कविता मे सदा ही पुनर्निर्माण हुआ करता है।

(ii) प्रपद्यवाद तरह-तरह से वस्तु संश्लेष को देखता है और उसे नयी संगतियो मे देख सकने के कारण प्रपद्यवादी कवि अपने आधार के लिए नैतिक स्वीकृति पाता है। स्वीकृत संगतियां व्यवहार मे घिस-पिट जाने के कारण व्यंजक नही होतीं। चूंकि वे स्वीकृत और नित्य अनुभूत होती हैं इसलिए नई संगतियों की जटिलताओं को शब्दो मे निर्णीत करते चलना प्रपद्यवाद का दृष्टिकोण होता है।

(iii) प्रपद्यवाद अनुभूति को शब्द से अलग नही देखता। स्वीकृत संगतियो की अनुभूति स्वीकृत शब्द संगतियों से ही होगी, इसलिए नवीन संगतियो के लिए नवीन शब्द संगति की आवश्यकता होगी क्योंकि कविता शब्दो से लिखी जाती है और शब्द संगति से अर्थ ग्रहण करते हैं।

(नकेनश्च, पृ० 114-116)

(iv) प्रपद्यवाद सम्प्रेषण अथवा साधारणीकरण के 'आधुनिक भाष्य' को अपूर्ण मानता है। इस 'आधुनिक भाष्य' मे अज्ञेय जी द्वारा सप्तको मे व्यक्त किए गए विचारों की ओर संकेत है। साधारणीकरण-सम्बन्धी उनके प्रथम सप्तक मे उद्धृत विचार ऊपर वर्णित है। दूसरे सप्तक की भूमिका मे अज्ञेय जी ने तनिक

विस्तार से विचार किया था। उनका कहना था कि नये कवि साधारणीकरण के सिद्धान्त को पूर्णतया स्वीकार करते हैं और इसलिए वे प्रयोग की आवश्यकता भी सिद्ध करते हैं। प्राचीन समय में जब ज्ञान के विविध क्षेत्रों का पार्थक्य नहीं हुआ था, वह विविध वर्गों, साहित्य, संगीत, विज्ञान, गणित इत्यादि में बँटा नहीं था, और सामान्य शिक्षित व्यक्ति इन सभी ज्ञानांगों से परिचित था, सभी एक प्रकार की भाषा और एक प्रकार के मुहावरे का प्रयोग करते थे और ऐसी स्थिति में साधारणीकरण का प्रश्न सरल था। किन्तु आज गणितज्ञ, अर्थशास्त्री इत्यादि सभी की शब्दावली भिन्न-भिन्न है और कवि अपने व्यक्ति-सत्य को दूसरों तक पहुँचाना चाहता है। परिवर्तित परिस्थिति के अनुरूप कवि की संवेदनाएं उलझी हुई हैं और उनको व्यक्त करने हेतु वह जिस भाषा का प्रयोग करता है, वह वैयक्तिक प्रायः हो जाती है क्योंकि वह परिचित शब्दों में नया अर्थ, भरने का प्रयास करता है। इसीलिए अज्ञेय के अनुसार नये कवि के लिए साधारणीकरण की समस्या अधिक जटिल बन गई है।

प्रपद्यवाद साधारणीकरण की इस व्याख्या को अपूर्ण मानता है। लेकिन, यह भी मानता है कि शब्द अपूर्ण होते हैं, इसलिए वह पाठक की स्वतन्त्रता को वापस देता है। "प्रेषण गद्य का गुण है। गद्य चूंकि रोजमर्रा के व्यवहार में आता है, वहां शब्दों की धारणा बांध दी जाती है। उदाहरणार्थ, कानून, डॉक्टरी आदि में। यहां विशेष केन्द्रण नहीं होता, इसलिए एक सामान्य सतह पर प्रेषण और अभिव्यक्ति सम्भव है। लेकिन, केन्द्रण-धर्मा काव्य को उस दैनंदिन जीवन की भाषा (गद्य) की व्याख्या को अतिरेक करके प्रकट होना पड़ता है।

कविता सामान्य अनुभव के क्षेत्र से आगे के अनुभव को प्रकट करती है। इसलिए ही यह अपेक्षित होता है—लेकिन तब शब्द कवि को अपने में पकड़ लेते हैं पाठक को भी। कवि लिखने के पूर्व ही काव्य हो चुका होता है। इसलिए उसका आदि उसके अन्त को निश्चित कर देता है। शब्द कागज पर चिन्ह मात्र हैं। उन्हें जब पाठक पढ़ता है, तभी वे पाठक को इसकी स्वतन्त्रता देते हैं कि वह अपने को उन शब्दों में देख सके। तात्पर्य यह है कि कवि अपने शब्दों से पाठकों को प्रतिश्रुत नहीं करा देता, उन्हें स्वतन्त्रता देता है कि वे अपने को जिस प्रकार चाहें, प्रतिश्रुत करें अर्थात् सामान्य अनुभूति के क्षेत्र से आगे जाकर कविता पाठक को भी स्वतन्त्र कर देती है *प्रतिक्रिया के मामले में।*"'यह स्वतन्त्रता आज ज्यादा आवश्यक है क्योंकि आज साधारणीकरण नहीं, ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में विशिष्टीकरण हो रहा है। विविध को ग्रहण करने का अवकाश कम होता जा रहा है। और आज कविता ही आदमी का वह साधन है, जिसकी व्यक्तिगत व्याख्या में उसके मन की मुक्ति सांसें ले सकती है। कविता के सामने यह उत्तरदायित्व है। इसलिए उसने संक्षेप शैली अपनाई है और इसीलिए उसमें रागात्मक पौर्वापर्य आया है। रागात्मक

पौर्वापर्य भागती हुई निरवकाश सभ्यता की शिराओं को प्रभावित करने का और मुक्त आसग (Free association) अपने को सुरक्षित रख आधुनिक मनोविज्ञान-दीक्षित मानव मन द्वारा उसकी निविड़ता के अवगाहन का आवश्यक साधन है। उपचेतन की समस्या कविता की सनातन समस्या है। पहले का कवि अपने व्यक्तित्व का आरोप कर उपचेतन की जटिलता पर खड़ा होता था। उसकी गर्वोक्तियां इस दृष्टि से द्रष्टव्य हैं। नया कवि मुक्त आसंग के सहारे, मानो उपचेतन की शक्ति से, उसकी जटिलता को परास्त करके मार्ग निकालना चाहता है, उसकी दृष्टि मे व्यक्तित्व का आरोप, वस्तु और काव्य और इस प्रकार काव्य और पाठक के बीच व्यवधान है। वह पाठक को बौद्धिक नही, ऐन्द्रिक आघात देना चाहता है। भाषा की सम्भावना की खोज करना तब धर्म हो जाता है।"[15]

प्रपद्य दर्शनकार की प्रपद्य दर्शन सरणि की अभिव्यक्ति करने वाली उक्त पंक्तियों से निम्न बातें प्रकाश मे आती हैं—

(1) कविता मे व्यक्त अनुभव सामान्य अनुभवों से आगे की वस्तु होता है,

(2) इसीलिए, कविता की भाषा दैनिक जीवन की भाषा (गद्य) से भिन्न होती है,

(3) पाठकों को स्वतन्त्रता है कि वे शब्दों के भीतर अपने मनोनुकूल अर्थों अथवा भावों की खोज कर सकें,

(4) परिणामत सम्प्रेषण कविता का गुण नही है, ठीक उसी अर्थ मे जिस अर्थ मे वह गद्य का गुण है, क्योंकि गद्य मे वक्ता अथवा लेखक के विचार सामान्य होते हैं और श्रोता अथवा पाठक यथावत उनमे व्यक्त भाव को ग्रहण कर लेता है, जबकि कविता मे व्यक्त भाव असामान्य होता है और इसी कारण वह पाठक की समझ मे यथावत नही आ सकता है तथा पाठक अपने अनुभव के अनुकूल कविता का अर्थ ग्रहण करता है,

(5) कविता की इस व्यक्तिगत (मनोनुकूल, मनचाही) व्याख्या मे आज का पाठक, बाहरी प्रतिबन्धों से हटकर, भीतरी मुक्ति का अनुभव करता है, उसके उपचेतन को सतोष-लाभ होता है,

(6) इसके लिए कविता सक्षेप शैली का अनुगमन कर रही है,

(7) नई कविता मे रागात्मक पौर्वापर्य (Emotional sequence) अर्थात् एक रागात्मक प्रतीति के बाद दूसरी रागात्मक प्रतीति और दूसरी के बाद तीसरी रागात्मक प्रतीति आई है,

(8) यह रागात्मक पौर्वापर्य 'मुक्त आसग' से घनिष्टतया सम्बद्ध है। (बिना किसी क्रम या सगति के भिन्न-भिन्न विचारों का आना मनोविज्ञान मे 'मुक्त आसग') Free assoniation) या सहज साहचर्य कहलाता है,

(9) उपचेतन की गुत्थियों से उलझना कविता का मुख्य उद्देश्य है।

(10) नया (प्रपद्यवादी) कवि पाठक की बौद्धिकता को नहीं, ऐन्द्रिकता को जगाना चाहता है।

प्रपद्यवाद की उपर्युक्त विचार-सरणि में केन्द्रस्थ समस्या साधारणीकरण की है। सामान्यतः काव्य का लक्ष्य आनन्द माना जाता रहा है। इसके लिए कवि के भावों का यथावत सम्प्रेषण आवश्यक होता है। यथावत सम्प्रेषण द्वारा तथा काव्य लोक में प्रवेश कर कवि पाठक का साधारणीकृत होना, आनन्द प्राप्ति की अनिवार्य शर्त है। प्रपद्यवाद की दृष्टि में विचार करते हुए प्राथमिक निवेदन यह होगा कि साधारणीकरण की उक्त परम्परित मान्यता, एक बिन्दु पर न केवल स्वीकरणीय है, अपितु, अपने स्थान पर यह सही भी है, क्योंकि साधारणीकरण सम्बन्धी यह चिन्तन हमें एक ऐतिहासिक दृष्टिकोण प्रदान करता है। साधारणीकरण की इस भूमिका को प्रपद्यवाद स्वीकार करता है, परन्तु इसे अपूर्ण मानता है। इसके पीछे प्रत्यक्ष कारण काव्य की अभिव्यक्ति का माध्यम शब्द और शैली है, और संलग्न, किन्तु सांकेतिक कारण युगीन आवेष्टन है। यह बहुत साफ और सीधी-सी बात है कि वर्तमान युग भाव प्रसार का नहीं, ज्ञान प्रसार का है। कल का कवि जिन कारणों से अभिप्रेरित होकर रचना करता था, आज वे कारण प्रायः नहीं हैं। इसी प्रकार कल का पाठक जिन कारणों से या जिन वस्तुओं को काव्य में पाकर आनन्दित होता था, वे कारण भी आज बदल गए हैं। साधारणीकरण का मान्य प्रकृति में कितना कुछ परिवर्तन हो चुका है इसका प्रमाण यही है कि आज कितने ही पाठक रघुवंश, रामचरित मानस, नदी के द्वीप आदि में साधारणीकरण की मुख्य आधारभूमि तन्मयीभवन की आवश्यकता ही अनुभव नहीं करते। कभी ये रचनाएं महान् थीं, आज भी अनेकों की भावनाओं में ये महान् हैं। पर अनेकों के दृष्टिकोण में, इन रचनाओं में आनन्द का कोई कारण नहीं। अतः आज 'साधारणीकरण' एक सार्वभौम घटक नहीं है। कल का साधारणीकरण आज सह विचारकों, सहचिंतकों, सहहित वाले सामाजिक प्रश्न समूहों में विभक्त हो चुके हैं।

ऐसी स्थिति में प्रपद्यवादियों की ईमानदारी की प्रशंसा होनी चाहिए कि उन्होंने सत्य मन से यह स्वीकार किया है कि वे सामाजिक अनुभवों को व्यक्त नहीं करते, और यह कि सही-सही सम्प्रेषण की कठिनाई को समझकर वे पाठक को मनोनुकूल अर्थग्रहण करने के लिए स्वतन्त्र छोड़ देते हैं तथा मुक्त आसंग के सहारे वे उपचेतन के मर्मों का उद्घाटन करना चाहते हैं। उनकी भाषा के सम्बन्ध में भी स्वीकारोक्ति सराहनीय है कि गद्य की भाषा से भिन्न कोटि की भाषा का प्रयोग वे इष्ट मानते हैं। उनके द्वादश सूत्रों में भी उनकी यह ईमानदारी प्रत्यक्ष झलकती है।

प्रपद्यवाद क्या है ?

सामान्यत: शाब्दिक अर्थ के रूप में इसे गद्य और पद्य का मिश्रित रूप माना गया है। वस्तुत: ऐसा है नही। प्रो० निशान्तकेतु ने अपनी पुस्तक 'शब्दान्तर' में इस शब्द का शील निरूपण करते हुए लिखा है—'पद्य का अर्थ है कवि कृति (पद चरणमर्हति इति पद्यम्)। 'प्र' उपसर्ग पूर्वक 'पद' धातु से यत् प्रत्यय लगाने पर प्रपद्य शब्द निष्पन्न होता है।। वस्तुत. प्रपद्य एक प्रवृत्ति है, प्रवहमान आलेख है या उत्कृष्ट पद्य अथवा प्रपद्य एक प्रपद्यमान प्रक्रिया है, प्रपन्न निष्कर्ष नहीं। प्रयोग को साध्य के रूप मे स्वीकार करने वाले इस यन्त्र का नाम (प्रपद्यमान) उपयुक्त ही है। कविता और सम्पन्न शीलता का सूचक शब्द 'प्रपद्य' अपने 'प्र' का अनेकार्थक अर्थ रखता है। 'प्र' का अर्थ पार्थक्य से लेकर—आरम्भ, प्रकर्ष, ख्याति, गति, अग्रोन्मुखता, आयाम तक एकाधिक है। लेकिन यह तो शब्दाश्रित अनुसंधान है। ऐतिहासिक वास्तविकता यह है कि 'प्रपद्य' नाम 'प्रयोगवादी पद्य' का सांकेतिक सार है, संक्षेप नाम है। प्रयोगवादी शब्द का 'प्र' और 'पद्य' मिलकर 'प्रपद्य' हो चला।'' [16]

प्रपद्य नामकरण की ऐतिहासिकता यह है कि 'पाटल' मे प्रकाशित कविताओ के लिए 'प्रयोगवादी पद्य' और बाद मे 'प्रपद्य' नाम दिया जाने लगा। प्रपद्यवाद का कोई पूर्व प्रपद्य नही मिलता। प्रपद्यवादी इसे स्वीकारते भी नही—''प्रपद्यवाद महान् पूर्ववर्तियो की परिपाटियो को भी निष्प्राण मानता है। इसी प्रकार वे 'उत्तर प्रपद्य' के अस्तित्व को भी वर्जित कर चुके है—''प्रपद्यवाद दूसरो के अनुकरण की तरह अपना अनुकरण भी वर्जित समझता है।'' (चतुर्थ सूत्र)

हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल मे पद्य अथवा गद्य की प्राय समस्त नवीन सचेतना या आन्दोलनो पर विदेशी प्रभाव समीक्षको ने देखे हैं। भारतीय वैदुष्य की मौलिक प्रतिमा पर सदैव प्रश्न-चिह्न लगाने वालो ने तो मध्यकाल के भक्ति आन्दोलन को भी ईसाई मत की देन तक माना है। प्रत्येक नई वस्तु को आयात मानने वाले ऐसे लोगो ने प्रपद्य को गद्य-पद्यात्मक मानने मे PROEM का रूपान्तरण माना है। अस्तु, स्पष्टीकरण आवश्यक है।

प्रपद्यवाद-प्रसग में यह आरोपण रिचर्ड्स के काव्य सग्रह 'Good bye earth and other Poems' (प्रकाशन वर्ष 1958 ई०) की भूमिका के कारण हुआ। भूमिका का शीर्षक था। 'PROEM' आरोपक समीक्षको ने PROSE + POEM = PROEM के कल्पित सूत्र के आधार पर प्रपद्यवाद पर उसी की छाया देखी। यह कल्पित सूत्र कितना आधारहीन था, यह इसी से स्पष्ट हो जाता है कि रिचर्ड्स की उक्त पुस्तक के प्रकाशन के पूर्व ही 'नकेन के प्रपद्य' का प्रकाशन 1956 ई० मे हो चुका था। पुन ध्यातव्य तथ्य यह भी है कि रिचर्ड्स ने PROEM का प्रयोग भूमिका (Preface) के अर्थ मे किया था। यह PROEM पुरानी

अंग्रेजी मे लैटिन और फ्रेंच का सफर करते हुए आया जिसका मूल रूप था 'PROHEME' जो बाद मे PROEM हो गया जिसका अद्यतन अर्थ Preface है। स्पष्टत. यह किसी गद्य-पद्यात्मक विधा की ओर संकेत नही करता। (द्रष्टव्य, शब्दान्तर : प्रो० निशान्तकेतु)

वस्तुत. यह नाम नकेनवादियो ने अज्ञेय जी के प्रयोगवादिता से पलायन के कारण विवशता पूर्वक धारण किया था। नामकरण कुछ वर्षों के बाद 'पाटल' और 'प्रकाश' के सम्पादन क्रम मे होता है किन्तु इसकी प्रवृत्ति मूलतः रिचर्ड्स और अज्ञेय के काफी पूर्व ही आरम्भ हो चुकी होती है। निश्चित है कि यह नाम न तो आयातित है, न छायावाद, प्रगतिवाद या सप्तक शिविर से छटे कवियो का अमर होने की लालसा से धारित नाम है। प्रपद्यवाद के वास्तविक व्यक्तित्व को सामने लाने हेतु केसरी कुमार की प्रस्तुत स्थापना उद्धरणीय है—"प्रयोगवाद पर इतना कुछ लिखे जाने के बाद भी यह कह देने की जरूरत है कि हिन्दी कविता मे प्रयोगवाद का वास्तविक आरम्भ 1936-38 ई० में लिखी नलिन विलोचन शर्मा की कविताओ से होता है, जिनमे से कुछ ही पत्र सम्पादको के हलक के नीचे उतर सकी थी।"[17]

प्रपद्य द्वादश सूत्री

(प्रपद्यवाद के घोषणा-पत्र का प्रारूप)

हिन्दी समीक्षा-जगत् मे वस्तु का मूल्यांकन उसकी मूल्यवत्ता और मौलिकता के आधार पर नही, अपितु वैयक्तिक राग और बहुमत के आधार पर होता है। इस युग का कोई भी व्यक्ति अकुंठ भाव से यह स्वीकार करेगा कि जनतांत्रिक देश मे सत्य न तो सत्य होने के कारण सत्य होता है, और न झूठ केवल झूठ होने के कारण झूठ। अपितु, सच या झूठ बहुमत की स्वीकृति का मुखापेक्षी होता है। प्रपद्यवाद या नकेनवाद का प्रयोगवाद से कायान्तरण के सन्दर्भ मे यह कथन सत्य है कि प्रयोग को साध्य-रूप मे स्वीकारने के बाद भी उन्हे यह यश नही दिया गया। अपनी स्थिति को तथाकथित प्रयोगवाद से भिन्न स्थापित करने के लिए प्रपद्यवादियो ने प्रयोगवाद के दर्शन-सूत्र को प्रपद्य द्वादश सूत्री के रूप मे, जिसे प्रपद्यवाद के घोषणा-पत्र का प्रारूप कहा गया, उपस्थापित किया। यह प्रारूप 1952 ई० मे श्री नरेश द्वारा सम्पादित 'प्रकाश' मे निम्न रूप मे मुद्रित हुआ—

1. प्रपद्यवाद भाव और व्यजना का स्थापत्य है।

2. प्रपद्यवाद सर्वतन्त्र स्वतन्त्र है, उसके लिए शास्त्र या दल-निर्धारित नियम अनुपयुक्त है।

3. प्रपद्यवाद महान् पूर्ववर्तियो की परिपाटी को भी निष्प्राण मानता है।

4 प्रपद्यवाद दूसरों के अनुकरण की तरह अपना अनुकरण भी वर्जित समझता है।

5. प्रपद्यवाद को मुक्त काव्य नहीं, स्वच्छन्द काव्य की स्थिति अभीष्ट है।[18]

6 प्रयोगशील प्रयोग को साधन मानता है, प्रपद्यवादी साध्य को।[19]

7. प्रपद्यवाद की दृक् वाक्यपदीय प्रणाली है।[20]

8. प्रपद्यवाद के लिए जीवन और कोष कच्चे माल की खान हैं।

9. प्रपद्यवादी प्रयुक्त प्रत्येक शब्द और छद का स्वयं निर्माता है।[21]

10. प्रपद्यवाद दृष्टिकोण का अनुसधान है।

प्रपद्यवाद के दो नये सूत्र सन् 1954 ई० में प्रस्तुत किए गए—

11. प्रपद्यवाद मानता है कि पद्य में उत्कृष्ट केन्द्रण[22] होता है और यही गद्य-पद्य में अन्तर है।

12. प्रपद्यवाद मानता है कि चीजों का एकमात्र[23] सही नाम[24] होता है।

इन द्वादश सूत्रों का, प्रपद्यवाद के शील-निरूपणार्थ सविस्तार अध्ययन किया जाना आवश्यक है।

1. प्रपद्यवाद भाव और व्यंजना का स्थापत्य है

काव्य-समीक्षा में यह यक्ष प्रश्न सदैव होता रहा है कि इसमे भाव की प्रधानता है या अभिव्यजना की। अपने इस प्रथम सूत्र में प्रपद्यवादी दृष्टि 'भाव' से भाव पक्ष और 'अभिव्यजना' से कला-पक्ष का अर्थ लेती है। 'स्थापत्य' शब्द सन्तुलन और समन्वय का अर्थ-द्योतक है। काव्य में भाव अथवा अभिव्यजना में से किसी एक पक्ष का समर्थन और दूसरे का अंध विरोध नहीं किया जा सकता। इनके सम्यक् सतुलन पर ही काव्य की सम्पूर्ण प्रभावान्विति संभव है, क्योंकि ये दोनों मिलकर कला-कौशल की आवृत्ति करते हैं। यही कला-कौशल मूलत काव्य है। अरस्तू ने फॉर्मेलिज्म के अन्तर्गत रूप पर विचार करते हुए इस सन्तुलन को प्रस्तुत किया था। उनके शब्दों में—"रूप उन चार कारणों में से एक है, जो पूर्णतया किसी वस्तु के अस्तित्व का आधार होते हैं। कारण चार होते हैं—1 उत्पादक, 2. उद्देश्य, 3. विषय और 4. रूप। इनमें से प्रथम दो बाह्य होते हैं और अन्तिम दो आन्तरिक।"[25] रूप के प्रति कट्टर अनुगामी भाव रखने वाले अरस्तु भी उद्देश्य और विषय (प्रकारान्तर से भाव) और उत्पादक तथा रूप (व्यजना) को स्वीकार करते हैं।

प्रपद्यवाद की यह प्रथम दृष्टि काव्य में स्थापत्य अर्थात् व्यजना-कौशल को भाव की अपेक्षा अधिक महत्व देती है। वह यह मानती है कि भाव कवि के मन, सस्कार तथा रचना-प्रक्रिया के अनुकूल अपनी व्यजना स्वय ग्रहण कर लेता है। इसी कारण वश, स्थायी भाव समान रहते हुए भी, वह कहीं पद्य और कहीं गद्य-

रूप ग्रहण कर लेता है। उपन्यास, कहानी, निबंध, संस्मरण और महाकाव्य अथवा विभिन्न काव्य रूपों में से किसी एक में भाव की अभिव्यंजना इसी कारण होती है। व्यंजना-कौशल की इस महत्ता का यह अभिप्राय नहीं कि भाव को इस वाद ने गौण माना है। यहां भाव इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि मूलतः यही रचनाकार के संस्कार और दृष्टिकोण का आधार ग्रहण कर अभिव्यक्त होता है। प्रथम सूत्र की सामासिक स्थिति यह है कि रचनाकार भाव को अपने संस्कार और परिवेश के अनुसार व्यंजित करता है। व्यंजना-कौशल ही उसकी निजता और कारयित्री प्रतिभा की कसौटी है। इसी अर्थ में प्रपद्यवाद काव्य को भाव और व्यंजना का स्थापत्य (अभिव्यंजना-कौशल) मानता है।

2. प्रपद्यवाद सर्वतंत्र स्वतंत्र है। इसके लिए शास्त्र या दल-निर्धारित नियम अनुपयुक्त हैं :

प्रस्तुत सूत्र में निम्न भाव संश्लिष्ट और संकुल हो गए हैं—यथा, (क) सर्वतंत्र-स्वतंत्र के अर्थ और अभिप्राय, (ख) क्या आलोचकीय और काव्य-शास्त्रीय निकष पर काव्य-रचना हो? क्या काव्य-रचना का अर्थ लक्षण-निरूपण मात्र है? प्रथम स्थिति सर्वतंत्र-स्वतंत्र का अर्थ काव्य में किसी प्रतिबद्धता या प्रतिश्रुति को अस्वीकार करना है। शब्दांतर से, यह वाद किसी भी साहित्यिक या राजनीतिक वाद से स्वयं को मुक्त घोषित करता है। इतना ही नहीं, यह सभी शास्त्रों और अभिव्यक्त तंत्रों से मुक्ति की भी घोषणा करता है। शास्त्रों से स्वतंत्रता का अर्थ कवि-पंथ से है। सर्वतंत्र-स्वतंत्रता की इस आकांक्षा के दो लक्ष्य या आधार हैं : प्रथम यह कि प्रपद्यवाद रीतिबद्ध नहीं, रीति मुक्त काव्य है। इस कारण शास्त्र और संस्था-निर्धारित नियमों से मुक्ति इसे अनिवार्य लगती है। ऐसा करके यह काव्य को जनतान्त्रिक आधार और स्वतंत्रता देना चाहता है। प्रपद्यवाद की जनतान्त्रिकता सामूहिक नहीं, बहुमत की भी नहीं, अपितु प्रत्येक व्यक्ति की अपनी निजी सत्ता और भावों के रक्षण से सम्बन्धित है। यह वाद कविता को भावों का सहज प्रस्फुटन (Spontaneous outburst of powerful feelings) मानता है। अतः यह मानता है कि नियम बनाकर कविता लिखने से वह कविता, कविता नहीं हो सकती। नियम-निर्धारित सांचे में निर्मित कविता उत्तम तो कथमपि नहीं हो सकती। सामान्यतः यह स्वीकार किया जा चुका है कि काव्य-रचना में कवि के भाव और संवेदना ही आधार भूमि है। ये नितान्त वैयक्तिक हैं। यह वैयक्तिकता जितनी अप्रतिबद्ध रहेगी, काव्य-रचना उतनी सहज और उत्तम होगी। आ० नलिन जी ने इसी कारण धुरिहीनता का समर्थन करते हुए इसे 'दृष्टि की उदारता' माना था तथा साहित्यकार को 'बहुदेवोपासक' बताया था। उनके शब्द हैं—"यदि धुरिहीनता यही है तो यह मात्र दृष्टि की उदारता

है, जिससे रहित साहित्यकार को साहित्य के बदले किसी और क्षेत्र में ही किस्मत को आजमाना चाहिए।" धुरिहीनता की अंतिम सीमा उन्होने यहा तक माना— "हमे अराजकता को अपना वह सहज प्राप्य लक्ष्य बनाना उचित है, जिसका स्वप्न ही राजनीतिक क्षेत्र मे देखा गया है।"[26]

सलग्न प्रश्न यह है कि क्या काव्य-धर्म लक्षण निरूपण मात्र है? प्रपद्यवाद का उत्तर दो दिशाओ मे विभक्त है—(क) शास्त्रो के नियम और लक्षण पढ़कर उत्तम काव्य नही रचा जा सकता। इसी कारण भक्तिकालीन कवियों की अपेक्षा रीतिकालीन कवि हीनतर है। (ख) जीवन और काव्य-शास्त्र के लक्षण कविता से निकलने चाहिए। प्राय: ऐसा हुआ भी है। तुलसीदास के मानस से आ० शुक्ल ने तथा कबीरदास से आ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने आलोचना के प्रतिमान निर्धारित कर दिए। निष्कर्ष यह है कि प्रपद्यवाद प्रत्येक स्थिति मे कवि की स्वतत्र सत्ता का आकाक्षी है। यह 'कविर्मनीषी परिभू: स्वयभू:' की मान्यता को स्वीकार करता है तथा यह आग्रह करता है कि कवि की भाव-सत्ता से बडा शास्त्र, दल, नियम और आलोचना-सूत्र नही है। कवि की संलग्नता, इस आधार पर, मात्र अपनी सवेदना और दृष्टि के साथ होनी चाहिए। इसके प्रति उसकी ईमानदारी सर्वोच्च होनी चाहिए, शेष चीजें कवि और काव्य के लिए गौण हैं।

3. प्रपद्यवाद महान् पूर्ववर्तियों की परिपाटी को भी निष्प्राण मानता है :

'प्रयोग' के अर्थ-व्यक्तित्व पर विचार करते हुए यह निवेदन किया जा चुका है कि यह एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण है, जिसमे किसी भी सत्य को अन्तिम सत्य नही माना जाता है तथा यह प्रत्येक सत्य को परिस्थितियो की सापेक्षता मे देखने का प्रयास करता है। इस आधार-दृष्टि के तीन स्पष्ट सकेतार्थ हैं : (क) किसी सत्य या निष्कर्ष को अंतिम नही माना जाना, (ख) सत्य का परिस्थिति-सापेक्ष होना। परिस्थिति काल-देश-सापेक्ष होती है। अस्तु, उसकी सतत परिवर्तनशीलता मे विश्वास रखना, (ग) जिज्ञासा, दृष्टि और विकसित यथार्थ के परिप्रेक्ष्य मे प्रयोग-द्वारा सत्य के नये आयामो को जानने की प्रचेष्टा करना।

उपर्युक्त दृष्टि प्रयोग की आधार-भूमि है। इस कारण यह स्वाभाविक परिणाम है कि प्रपद्यवाद 'परिपाटी' अर्थात् 'परम्परा' को निष्प्राण मानता है। इस वाद की यह दृष्टि है कि परम्परा का सम्बन्ध प्रकटत और अधिकाशत: भूतकाल से रहता है। उसके चिन्तन और उसकी स्थापनाओ मे से अधिकाश अपने विगत काल की आवश्यकताओ की सतुष्टि के लिए बनाए गए होते हैं। इस कारण परम्परा मे कदाचित् वह शक्ति नही होती कि वह हमारे वर्तमान युग और बोध को प्रेरणा दे सके। ध्वन्यर्थ है कि वर्तमान की समस्याओ और आशा-आकाक्षाओ

की परितृप्ति के सूत्र वर्तमान मे ही उपलब्ध हो सकते हैं। इस तथ्य की दूसरी दिशा यह है कि उसको निर्धारित करने वाले व्यक्ति वर्तमान तक जीवित नही होते। इस कारण परम्परा के अनेकाशो को युग-सापेक्ष बनाना सुकर नहीं होता। यही कारण है कि परम्परा का अक्षरश' पालन करने वाला व्यक्ति समाज को यथास्थान सुरक्षित तो रख सकता है, उसे आगे नही बढा सकता। परम्परा एक प्रकार से शव-भार है और यह स्वाभाविक है कि भारग्रस्त व्यक्ति की गति तीव्र नही हो सकती और न वह इच्छानुमार गमन ही कर सकता है। प्रपद्यवाद के इस सूत्र से उसकी वर्तमान धर्मिता और विकासवादिता के साथ-साथ प्रगतिवाद और विद्रोह-दर्शन भी सिद्ध होता है।

किन्तु, क्या यह सभव है कि रचनाकार सर्वतोभावेन परम्परा से विछिन्न हो सकता है? आ० नलिन विलोचन शर्मा ने 'हिन्दी साहित्य की महान् परम्पराए' शीर्षक निबन्ध में साहित्य के अन्तर्गत प्रवाहित उन परम्पराओ का उल्लेख किया है जो न्यूनाधिकत' सभी रचनाओ मे स्पन्दित रहती हैं अर्थात् परम्पराए वही तक ग्राह्य हैं, जहां तक वर्तमान को भविष्य के क्षितिज तक तीव्रता से उत्क्षिप्त करने मे सहायक सिद्ध हो पाती हैं। इस सूत्र मे अतिशयोक्ति दोष का आभास होता है, पर, एक सीमा तक यह सिद्धान्त सही भी है। आज तुलसीदास-जैसे महान् पूर्ववर्तियों की अनुकृति पर अवधी मे रचना होने लग जाय तो यह वर्तमान युगधर्मिता के अनुकूल बात नहीं होगी। काल-सापेक्षता, साहित्येतिहास-सन्दर्भ, समृद्ध रिक्थ आदि कारणो से ही तुलसीदास का महत्त्व है। रचना-प्रक्रिया और युग-परिवर्तन के कारण उनमे अनुकरणीयता नही रह गई है। दूसरी बात अनुकरण से सम्बद्ध है। परिपाटी को वर्तमान मे अनुकरण से जीवित रखने का तात्पर्य उसका अनुकरण करना है। ध्यातव्य है कि अनुकृति अनुकृत से उत्कृष्ट नहीं होती है। जब प्रपद्यवाद अपनी मौलिकता एवं प्रयोग-नवीनता की घोषणा करता है, तो उसके लिए अनुकृति वर्जित होती है। अत: प्रपद्यवाद की घोषणा, कि वह महान् पूर्ववर्तियो की परिपाटी को भी निष्प्राण मानता है, सही है।

4. प्रपद्यवाद दूसरों के अनुकरण की तरह अपना अनुकरण भी वर्जित समझता है :

पूर्वसूत्र में परम्परा की निष्प्राणता को स्पष्ट करते हुए यह देखा गया है कि प्रपद्यवाद किस कारण और किस सीमा तक इसे निष्प्राण मानता है। अत. इस वाद ने आग्रहपूर्वक अनुकरण को अस्वीकार किया, क्योकि इससे मौलिकता नही आ सकती और नूतन प्रयोग की संभावना भी समाप्त हो जाती है। इसी कारण अपने द्वारा दूसरो के अनुकरण के साथ अपने अनुकरण को भी इसने वर्जित किया। इसीलिए जिन तीन कवियो ने प्रपद्यवादी रचनाएं की, उनके मंडल में कोई चौथा

नाम सम्मिलित नहीं हो सका। मौलिकता-रक्षण और प्रयोग-साध्यता की दृष्टि से यह सूत्र अत्यन्त मूल्यवान है। फिर भी यहां ध्यातव्य है कि प्रपद्यवादियों ने कबीर और निराला के व्यंग्य तथा प्रगतिवादियों की तरह संस्कृति-भंजन के अनुकरणवत उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। इसके सम्बन्ध में यही कहना पर्याप्त है कि ये अनुकरण के अर्थ में अनुकरण नहीं है। प्रपद्यवादियों ने इनका कच्चे माल के रूप में प्रयोग किया है, जिसकी पुष्टि आठवें सूत्र से होती है।

तृतीय और चतुर्थ अध्याय में केन्द्रस्थ विषय 'परम्परा' है। 'नकेन' के तीसरे कवि श्री नरेश ने 'कविता और हिन्दी कविता' शीर्षक निबन्ध में इस विषय पर अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक विचार किया है। हम आवश्यक समझते हैं कि उनके विचार देखे जाएं। उनकी दृष्टि में प्रयोगवादी कवि परम्परा से अलग रहता हुआ उसे देखता भी है। उनके शब्द हैं—"प्रयोगवाद का कवि जहां अपने को इन परम्पराओं से अलग रखता है, वहीं वह परम्परा को देखता है। परम्परा आज उतना ही रहस्यमय शब्द हो उठा है, जितना रहस्य शब्द स्वयं। लेकिन क्या ऐसा कहा जा सकता है कि परम्परा में समय के साथ चलकर जो अभ्यास डाले गए हैं, उनसे कोई भिन्न भाव है? निश्चय ही इस तरह देखने से परम्परा का मूल्य एक लम्बे अर्से तक होने वाली बातों के अभ्यास में पड़ जाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह जाता, और इसी अर्थ में परम्परा अभ्यासों के समय का द्योतक बनकर रह जाती है, हम जब परम्परा की दुहाई देते हैं, तब हम यह भूल जाते हैं कि प्रत्येक पीढ़ी की परम्परा प्रायः एक सौ वर्षों से अधिक हो ही नहीं सकती। परम्परा का तब इतना ही काम रहता है, कि वह हमारे जीवन के विभिन्न पहलुओं के क्षेत्र में हमें अभ्यस्त (conditioned) करती है। हमने अपनी ऊपर की पीढ़ी से सुना कि तुलसीदास की रामायण एक ऐसा महत्त्वपूर्ण वृहत ग्रंथ है कि उसमें हमारा सारा जीवन समा जा सकता है। इस प्रकार परम्परा के द्वारा भावनाओं की अभिव्यक्ति-अभ्यस्ति (conditioning) होती है, उसके कारण हम परम्परा की ठोस जमीन से अलग किसी नये तरल जीवन पर खड़े होने को तैयार नहीं होते।"

परम्परा या अनुकरण की सीमा-परिधि किस प्रकार नवीन भाव-दशाओं, उनसे उत्पन्न संघर्ष के दबावों और कुहेलिका में प्रकाश-क्षण-निर्माण कर पाने में प्रायः असमर्थ हो जाती है, यह निष्कर्ष-संस्थापन उपर्युक्त विश्लेषण से अनायास ही प्रकट हो जाता है। यही कारण है कि प्रत्येक नया सामाजिक दायित्व-बोध नये सिद्धान्त से जीने की आवश्यकता अनुभव करेगा। अतः आगमिष्यत् काल में अपने-अपने ढंग और अपनी-अपनी आवश्यकता के अनुरूप प्रयोग की आवश्यकता होगी। प्रयोग की इस चिरन्तन शाश्वत अपेक्षित अनिवार्यता को तभी संतुष्ट किया जा सकेगा, जब वह अनुकरण और परम्परा से विमुक्त हो।

5. प्रपद्यवाद को मुक्त काव्य नहीं, स्वच्छन्द काव्य की स्थिति अभीष्ट है :

पूर्व के दो सूत्रों अनुकरण और परम्परा से मुक्ति की घोषणा-सम्बन्धी स्थिति प्रपद्यवाद के संदर्भ मे देखी जा चुकी है। इनसे मुक्ति के साथ यह प्रश्न स्वाभाविक है कि तब इनके स्थान पर विकल्प क्या हो ? स्वच्छन्दतावाद को इसी विकल्प के रूप मे प्रपद्यवादियों ने स्वीकृत किया है। साहित्यिक उदारतावाद ही स्वछंदतावाद माना गया है। इसकी प्रमुख तीन विशेषताएं हैं—गहरा तथा आध्यात्मिक स्तर का प्रकृति-प्रेम, एक व्यापक तथा उदार मानवतावाद मे विश्वास तथा काव्य की मुक्त तथा स्वच्छंद अभिव्यक्ति-प्रणाली। जब कोई रचनाकार यह अनुभव करता है कि साहित्य जीवन की तरह ही गतिशील तथा युग एवं परिवेश के अनुकूल परिवर्तनशील है, तब वह स्वच्छंदतावाद को स्वीकार करने की स्थिति मे होता है। ऐसी स्थिति आते ही उसमे वैयक्तिक स्तर का विद्रोह-भाव जन्म लेता है। प्रपद्यवाद के पाचवें सूत्र की यही स्थिति है।

प्रस्तुत सूत्र के अन्तर्गत सूत्रकार ने दो बातें और जोडी हैं—(1) Vers Libere : Vers Libre और (2) भाष्य के लिए देखिए 'दृष्टिकोण' मासिक के प्रथम अंक का प्रथम निबन्ध। प्रथम सूत्र के समान इस सूत्र मे भी शिल्प की बात है, तथापि इस सूत्र की अभिव्यक्ति-तंत्र-सम्बन्धी अपनी अलग विशेषता है।

फ्रेंच का 'Vers Libre' अंग्रेजी का 'Free Verse' और हिन्दी का 'मुक्त काव्य' समानार्थी हैं। इसी प्रकार फ्रेंच का 'Verse Libre' और हिन्दी का स्वच्छन्द छन्द या स्वच्छंद काव्य का तात्पर्य काव्यगत छन्दविधान की परम्परा से मुक्ति है और स्वच्छंदकाव्य का तात्पर्य काव्योपजीव्य अथवा काव्य विषय एवं उसकी अभिव्यक्ति-पद्धति की स्वच्छंदता से है। आचार्य श्री नलिन विलोचन शर्मा ने उक्त निबन्ध (हिन्दी साहित्य की महान् परम्पराएं) मे इस अंतर को स्पष्ट करते हुए लिखा है—"काव्य मुक्त होने पर स्वच्छंद नही हो सकता। इसी तरह स्वच्छंद होने पर वह मुक्त न हो तो कोई आश्चर्य नही। मुक्त काव्य का अर्थ पद्य यंत्र (Verse Mechanism) से मुक्ति मात्र है। यदि कविता का रूप-विन्यास नियमानुमोदित नही है तो यह मुक्त मानी जायगी। लेकिन, हम अक्सर देखते हैं कि पद्यकौशल सम्बन्धी मुक्ति के बावजूद कविता में विषयगत स्वच्छन्दता नही आने पाती। कविता की आकृति तो बदल जाती है, किन्तु उसकी प्रकृति मे कोई परिवर्तन नही हो पाता।" पुन वे लिखते हैं—"पोशाक बदलना मुक्तता है, जबकि विचार बदल लेना स्वच्छन्दता। अधिक आवश्यक वैचारिक परिवर्तन है। परिधान परिवर्तन अपेक्षया सरलतर भी है। केवल परिधान-परिवर्तन से ही कोई आधुनिक तथा प्रगतिशील नही माना जा सकता। उदाहरण के लिए आजकल कुछ भारतीय युवक परिधान से हिप्पी हैं,

किन्तु विचार से नहीं।"

स्वयं प्रपद्यवादी कविताएं मुक्त और स्वच्छन्द दोनो हैं। दोनों मे प्रपद्यवाद के लिए अधिक अभीष्ट है, स्वच्छन्द काव्य। सूत्र-प्रपत्ति मे ऐसा आभास मिलता है कि प्रपद्यवाद को मुक्त काव्य की नही, स्वच्छन्द काव्य की स्थिति अभीष्ट है। "मुक्त काव्य के साथ नहीं" का अर्थ गौणता मे है।

स्वच्छन्दता की स्वाभाविकता को और भी उद्दीप्त करने के लिए कहा जा सकता है कि साहित्य का इतिहास ही स्थिर रीतियो (Convertions) और स्वच्छन्दता के सघर्ष का इतिहास है। साहित्य बारी-बारी से इन्ही दोनों पथो पर अग्रसर होकर विकसित होता आया है। पहला रास्ता निर्माणकर्त्ताओ का और दूसरा साहसी विद्रोहियो और पथ के अन्वेषकों का होता है। स्वच्छन्दतावाद परम्परागत रीतियो के विरुद्ध विद्रोह करता है। इस विद्रोह की ध्वसात्मक और निर्माणात्मक दो प्रवृत्तियां होती हैं। स्वच्छन्दतावाद अपेक्षया ध्वंसात्मक इसलिए होता है कि वह प्राचीन मृत रूढियो से ऊब गया रहता है। साथ ही, वह निर्माणात्मक भी होता है, क्योकि उसमे नये रास्तों का अनुसंधान करके साहित्य को जीवंत और सशक्त बनाने की प्रबल कामना होती है। स्वच्छन्दता को प्रिय अभीष्ट मानने के पीछे प्रपद्यवाद की आधारभूत स्वाभाविकता है। इसके पीछे दो मौलिक कारणो को देखा जा सकता है। प्रथम यह कि परिवर्तित परिस्थिति मे जीवन के सन्दर्भ और आसग (Association) बदल जाते हैं। परिणामत नये सदर्भ और आसग के अनुकूल नयी काव्य चेतना, नये भाव और नयी व्यंजना आवश्यक होती है। काव्य मे इसी कारण स्थिर रीतियो (Conventions) का परित्याग और नयी रीतियो का स्वीकार आवश्यक हो जाता है। नये के स्वीकार के लिए प्रयोग आवश्यक हो जाता है। अब प्रश्न यह शेष रह जाता है कि प्रयोग की आवश्यकता को स्वच्छन्दतावाद किस प्रकार पूरा कर पाता है। इस प्रश्न का उत्तर स्वच्छन्तावाद का अर्थ देता है। स्मरणीय है कि साहित्यिक उदारतावाद को ही स्वच्छन्दतावाद कहा जाता है। उदार दृष्टि के कारण स्वच्छन्दता का आश्रय ग्रहण करने वाले प्रपद्यवाद को प्राचीन काव्यरूढ़ि—मृत छन्द और तुक मृत शब्द-योजना, मृत विचार वस्तु आदि को तोडना स्वाभाविक लगता है एव इस कार्य मे इसे कोई कठिनाई नही होती।

6. प्रयोगशील प्रयोग को साधन मानता है, प्रपद्यवादी साध्यको :

समस्त प्रपद्यवादी दर्शन सूत्र मे यह केन्द्रस्थ है। प्रपद्यवाद के उद्‌भव और नामकरण के कारणो पर विचार के क्रम मे यह बात स्पष्ट की जा चुकी है कि प्रयोग को साध्य मानने की दृष्टि रखने के कारण ही प्रपद्यवादियो को तथाकथित प्रयोगवादी (सप्तक परम्परा के कवि मण्डल) से अपने को पृथक् करने की

आवश्यकता पड़ी थी। 'प्रयोग की साध्यता' ही प्रयोगवाद की आत्मा है, जिसे प्रपद्य-वादियों ने बड़े आग्रहपूर्वक स्वीकार किया है। यह सत्य है कि हिन्दी काव्य-परम्परा में सर्वदा कुछ-न-कुछ प्रयोग हुए हैं, तथापि प्रयोग को साध्य रूप में स्वीकारने की बात मार्मिक रूप से प्रपद्यवाद ने ही की। परिणामत: इस सूत्र का गुरुत्व स्वत: सिद्ध है।

इस सूत्र के माध्यम से दो बातें कही गई हैं—(क) प्रपद्यवाद का प्रयोग को साध्य रूप में स्वीकारना और (ख) प्रपद्यवाद की प्रयोगशीलता से तुलना (हम कह सकते हैं तथाकथित प्रयोगवाद से, क्योंकि प्रयोगशीलों को ही असली प्रयोगवादी माना गया है।)। इन बातों की वृहत् व्याख्या अपेक्षित नहीं है। नातिदीर्घ विश्लेषण हेतु हम पहले प्रयोगवाद और प्रयोगशील के पार्थक्य को सामने रखना चाहेंगे। इस सूत्र की टिप्पणी में 'तुलना कीजिए—चरित्रशील और चरित्रवाद—प्रयोगशील और प्रयोगवाद' संलग्न किए गए हैं तथा अर्थ-स्पष्टीकरण के लिए एप्रेंटिस और एक्सपर्ट शब्दों के अर्थ-पार्थक्य को सामने लाया गया है। इस आधार पर यह बात पूरी तरह से साफ हो जाती है कि प्रयोग को जो साध्य मानता है, वह प्रयोगवादी तथा जो इसे साध्य-रूप में अनिवार्य नहीं समझता, वह प्रयोगशील है। निष्कर्ष यह कि प्रपद्यवादी ही वास्तविक प्रयोगवादी थे, किन्तु उन्हें यह आख्या चाहकर भी नहीं मिली।

अब यह बात विचारणीय है कि प्रपद्यवाद ने प्रयोग को साध्य-रूप में स्वीकार किया है तो उसके पीछे कारण क्या है—फैशन मात्र या कोई आन्तरिक प्रतिबद्धता? अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध प्रयोगशील उपन्यासकार फिलिप टायनबी ने लिखा है कि यूरोप के कुछ स्थानों में ऐसी पुस्तकें, जिनमें वाक्य सीधे नहीं, बल्कि ऊपर से नीचे की ओर छपे हों, या जिनकी विविध रंगों में छपाई हुई हो, साहस-पूर्ण या मनोरंजक प्रयोग के रूप में स्वीकार की जाती है। चाहे उनका वस्तु तत्त्व बहुप्रयुक्त और अनुकृत ही क्यों न हो।[27] दूसरे प्रकार के प्रयोग निरुद्देश्य होते हैं। इन्हें प्रयोग के लिए प्रयोग कह सकते हैं। यदि यह सिद्धान्त सही है कि कला और साहित्य में वस्तु तत्त्व और रूप तत्त्व (भावपक्ष और कलापक्ष) अविच्छिन्न और अविभाज्य होते हैं, तो यह मानना पड़ेगा कि वस्तु तत्त्व के आग्रह के कारण ही कलात्मक प्रयोग किए जाते हैं। वस्तु तत्त्व की नवीनता के कारण जब परम्परा-गत रूप-शिल्प अभिव्यक्ति का सफल और समर्थ माध्यम नहीं रह जाता, तो उसे छोड़कर नवीन रूपाकार की योजना करनी पड़ती है। हम कहना चाहेंगे कि नकेन-वादियों ने प्रयोग को साध्य माना है, तो इसके पीछे साहित्यिक फैशन का आग्रह नहीं, बल्कि आन्तरिक बाध्यता के कारण, जो युगीन बोध से उत्पन्न दबाव है।

7. प्रपद्यवाद की दृक् वाक्यपदीय प्रणाली है :

यह प्रपद्यवाद का शैली-सूत्र है। इसमें दो व्याख्येय खण्ड हैं—(क) दृक् वाक्यपदीय और (ख) प्रणाली। 'प्रणाली' शब्द का अर्थ-अभिप्राय रचना-प्रक्रिया है। इसके अन्तर्गत सर्जन-प्रक्रिया, सर्जन-धर्म एवं सर्जन शीलता सम्मिलित हैं। यह स्वाभाविक सत्य है कि कला और साहित्य एक दृष्टि-विशेष-द्वारा रचे जाते हैं। दृष्टि-वैशिष्ट्य की भिन्नता के कारण रचना-प्रक्रिया में भिन्नता आती है। यह सम्भव नहीं कि दृष्टिगत भिन्नता रखकर कवि एक जैसी रचना-प्रक्रिया स्वीकार करे। जैसे—वस्तु-तत्त्व के पार्थक्य से रूप-तत्त्व में परिवर्तन होता है, वैसे ही काव्य-दृष्टि की भिन्नता से रचना-प्रक्रिया मे परिवर्तन होता है।

'दृक् वाक्यपदीय' की रचना दृक् + वाक्य + पद के मेल से हुई है। 'दृक्' का अर्थ दृष्टि या दर्शन, 'वाक्' का अर्थ वाक्य (ध्वनि और अभिव्यंजना का वाहक आधार वाक्य है) तथा 'पद' का अर्थ परसर्ग और प्रत्यादि से प्रयुक्त शब्द है। ऐसे ही शब्दो से वाक्य निर्माण होता है। इस सूत्र मे प्रयुक्त तीन शब्द रचना प्रक्रिया के तीन आयाम प्रस्तुत करते हैं। इनका अनुशीलन इस प्रकार सम्भव है—(क) दृक्→दृष्टि→द्रष्टा : इसके अन्तर्गत यह सिद्धान्त निहित है कि द्रष्टा *दृश्य का अपनी दृष्टि के अनुकूल दर्शन करता है। सकेतार्थ यह है कि रचनाकार* जब किसी वस्तु को देखता है, तब वह अपने चिन्तन और संस्कार अथवा अपने व्यक्तित्व का उस पर आरोपण करता है। (ख) वाक् (वाक्य) इस दूसरी स्थिति मे ध्वनि या ध्वन्यर्थ व्यजना का स्फोट रूप आता है। स्मरणीय है कि स्फोट-वादियो ने स्फोट को नाद का शाश्वत, अविभाज्य सर्जनात्मक रूप माना है तथा यह स्थापित किया है कि स्फोट विचार का वह वास्तविक माध्यम है, जो चित्त मे किसी शब्द के उच्चरित होते ही अर्थ के रूप मे उद्भाषित होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार शब्दो का अर्थ, जो प्रकट होता है, वह न तो वर्णों से होता है और न वर्णों से बने हुए शब्दो मे होता है, वरन इन वर्णों से बने हुए शब्दो मे सन्निहित शक्ति के कारण अभिव्यक्त होता है।[29] प्रपद्यवाद द्वारा स्वीकृत और व्यवहृत वाक् का सीधा अभिप्राय यह है कि यहा द्रष्टा (कवि) चित्त मे उच्चरित शब्द को *काव्य रूप में प्रस्तुत करता है। इस प्रक्रिया का महत्त्व एक ओर काव्य की* शुद्धता से है, दूसरी ओर चित्त पर मुद्रित भावो के प्रकाशन के कारण। यह वाद कवि की निजता का रक्षण कर पाने मे समर्थ होता है। इसके कारण काव्य की काव्येतर प्रतिबद्धता समाप्त होती है और यह वाद सर्वतन्त्र हो जाता है। (ग) पद—इस तीसरी स्थिति मे दृष्ट और ध्वनित को पद्य निबद्ध किया जाता है। इस स्थिति मे पहुचते ही कवि (Subject) और वस्तु जगत् (object) के मध्य द्रष्टा-दृश्य सम्बन्ध स्थापित होता है।

इस सूत्र मे 'पद' अन्तिम इकाई है। हम जानते हैं कि भाषा की अन्तिम इकाई

वाक्य है। विभक्ति हीन ध्वनि-समुच्चय शब्द होता है, विभक्ति युक्त पद। यहा दृक् और वाक् की तुलना मे पद को महत्ता प्रदान की गई है, जिसका सम्बन्ध पद्य और गद्य के गठन और व्यंजना पद्धति से है। पद का प्रयोग गद्य और पद्य दोनो मे होता है। किन्तु दोनों की प्रयोग पद्धति मे मौलिक अन्तर है। गद्यकार वाक्य विन्यास पर बल देता है, कवि शब्द और शब्द सयोजन पर। प्रयोग पद्धति के इस अन्तर के कारण ही गद्य और पद्य मे अन्तर होता है जिसकी पुष्टि प्रपद्यवाद का ग्यारहवा सूत्र करता है।

'वाक्यपदीय' की एक दूसरी व्याख्या भी सम्भव है। इसकी सलग्नता स्फोट-वाद के अन्तर्गत वैयाकरणिक सिद्धान्तकारो से है, जिनमे भर्तृहरि सर्वप्रमुख हैं। पदार्थ तत्त्व-विवेचन प्रसंग मे अपने महान् ग्रंथ 'वाक्य पदीयम्' में उन्होंने इस शब्द का अर्थ संश्लेषण इन शब्दों मे किया है—'वाक्य पदीय वाक्यच पद च पदेते अधिकृतं सूत्र वाक्य पदीयम्'। इस प्रकार यह स्पष्ट किया जा सकता है कि प्रपद्य-वादियो द्वारा स्वीकृत और व्यवहृत इस सूत्र मे प्राचीन 'वाक्य पदीय' की महान् स्थापना तथा आधुनिक रचना-प्रणाली समन्वित हो गए हैं। प्राचीन आर्ष परम्परा 'वाक्यपदीय' मे प्रयुक्त वृक् शब्द दृष्टि अर्थ में ही प्रकृत हुआ है, जिसकी पुष्टि इस सूत्र से होती है—'ऋषय मंत्र द्रष्टारः'। प्रपद्यवाद भी इसे इसी रूप मे स्वीकार करता है कि प्रपद्यवादी कवि वस्तु को अपनी दृष्टि और सगीत मे देखता है। देखने की इस पद्धति का अर्थ-विस्तार प्रपद्यवाद के दसवें सूत्र के रूप में होता है।

प्रस्तुत सूत्र की टिप्पणी के रूप मे Verbi Voco Visual method अंकित है। यह पदाश फ्रेंच-अंग्रेजी शब्दो के मेल से विनिर्मित है। इससे वाक्यपदीयता को लक्षित किया गया है। Verbi Voco Visual क्रमश पद, ध्वनि और दृश्य के अर्थ मे व्यवहृत हुए हैं। यह शब्द-विन्यास फ्रेंच-अंग्रेजी रचना-प्रक्रिया स्पष्ट करता है। सस्कृत काव्यशास्त्र तथा व्याकरण एव प्रपद्यवादियो ने पहले दृष्टि, फिर ध्वनि और अन्त मे पद की प्रणाली स्वीकार की है। इसके विपरीत फ्रेंच-अंग्रेजी-प्रणाली मे पहले पद, फिर ध्वनि और अन्त मे दृष्टि (दृश्य) को स्वीकार किया गया है।

इस सूत्र के विश्लेषण के अत मे 'पद'—सन्दर्भ मे एक विशेष तथ्यात्मक आग्रह को देखना आवश्यक-सा है। प्रपद्यवाद के तीसरे कवि नरेश की मान्यता है कि कविता न तो भावों से लिखी जाती है और न विचारो से, अपितु यह शब्दों मे लिखी जाती है। इस कारण प्रपद्यवाद मे प्रयुक्त शब्द (पद) का अशेष महत्त्व हो जाता है। इस स्थिति मे प्रपद्य-सूत्रकार केसरी कुमार की स्थापना है कि प्रपद्य-वाद तरह-तरह से वस्तु-सश्लेष को देखता है, और उसे नई संगतियो मे देख सकने के कारण ही प्रपद्यवादी कवि अपने आधार के लिए नैतिक स्वीकृति पाता है। स्वीकृत संगतियो के व्यवहार मे घिस-पिट जाने के कारण वे व्यंजनक नही होतीं,

7. प्रपद्यवाद की दृक् वाक्यपदीय प्रणाली है :

यह प्रपद्यवाद का शैली-सूत्र है। इसमे दो व्याख्येय खण्ड हैं—(क) दृक् वाक्यपदीय और (ख) प्रणाली। 'प्रणाली' शब्द का अर्थ-अभिप्राय रचना-प्रक्रिया है। इसके अन्तर्गत सर्जन-प्रक्रिया, सर्जन-धर्म एवं सर्जन शीलता सम्मिलित हैं। यह स्वाभाविक सत्य है कि कला और साहित्य एक दृष्टि-विशेष-द्वारा रचे जाते हैं। दृष्टि-वैशिष्ट्य की भिन्नता के कारण रचना-प्रक्रिया मे भिन्नता आती है। यह *सम्भव नही कि दृष्टिगत भिन्नता रखकर कवि एक जैसी रचना-प्रक्रिया स्वीकार* करे। जैसे—वस्तु-तत्त्व के पार्थक्य से रूप-तत्त्व मे परिवर्तन होता है, वैसे ही काव्य-दृष्टि की भिन्नता से रचना-प्रक्रिया मे परिवर्तन होता है।

'दृक् वाक्यपदीय' की रचना दृक् + वाक्य + पद के मेल से हुई है। 'दृक्' का अर्थ दृष्टि या दर्शन, 'वाक्' का अर्थ वाक्य (ध्वनि और अभिव्यजना का वाहक आधार वाक्य है) तथा 'पद' का अर्थ परसर्ग और प्रत्यादि से प्रयुक्त शब्द है। ऐसे ही शब्दो से वाक्य निर्माण होता है। इस सूत्र में प्रयुक्त तीन शब्द रचना प्रक्रिया के तीन आयाम प्रस्तुत करते हैं। इनका अनुशीलन इस प्रकार सम्भव है—(क) दृक्→दृष्टि→द्रष्टा इसके अन्तर्गत यह सिद्धान्त निहित है कि द्रष्टा दृश्य का अपनी दृष्टि के अनुकूल दर्शन करता है। सकेतार्थ यह है कि रचनाकार जब किसी वस्तु को देखता है, तब वह अपने चिन्तन और सस्कार अथवा अपने व्यक्तित्व का उस पर आरोपण करता है। (ख) वाक् (वाक्य) इस दूसरी स्थिति मे ध्वनि या ध्वन्यर्थ व्यजना का स्फोट रूप आता है। स्मरणीय है कि स्फोट-वादियो ने स्फोट को नाद का शाश्वत, अविभाज्य सर्जनात्मक रूप माना है तथा यह स्थापित किया है कि स्फोट विचार का वह वास्तविक माध्यम है, जो चित्त मे किसी शब्द के उच्चरित होते ही अर्थ के रूप में उद्भासित होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार शब्दो का अर्थ, जो प्रकट होता है, वह न तो वर्णों से होता है और न वर्णों से बने हुए शब्दो मे होता है, वरन इन वर्णों से बने हुए शब्दो मे सन्निहित शक्ति के कारण अभिव्यक्त होता है।[29] प्रपद्यवाद द्वारा स्वीकृत और व्यवहृत वाक् का सीधा अभिप्राय यह है कि यहा द्रष्टा (कवि) चित्त में उच्चरित शब्द को काव्य रूप मे प्रस्तुत करता है। इस प्रक्रिया का महत्त्व एक ओर काव्य की शुद्धता से है, दूसरी ओर चित्त पर मुद्रित भावो के प्रकाशन के कारण। यह वाद *कवि की निजता का रक्षण कर पाने में समर्थ होना है।* इसके *कारण काव्य की* काव्येतर प्रतिबद्धता समाप्त होती है और यह वाद सर्वतन्त्र हो जाता है। (ग) पद—इस तीसरी स्थिति मे दृष्ट और ध्वनित को पद्य निबद्ध किया जाता है। इस स्थिति मे पहुचते ही कवि (Subject) और वस्तु जगत् (object) के मध्य द्रष्टा-दृश्य सम्बन्ध स्थापित होता है।

इस सूत्र मे 'पद' अन्तिम इकाई है। हम जानते हैं कि भाषा की अन्तिम इकाई

वाक्य है। विभक्ति हीन ध्वनि-समुच्चय शब्द होता है, विभक्ति युक्त पद। यहां दृक् और वाक् की तुलना में पद को महत्ता प्रदान की गई है, जिसका सम्बन्ध पद्य और गद्य के गठन और व्यंजना पद्धति से है। पद का प्रयोग गद्य और पद्य दोनों में होता है। किन्तु दोनों की प्रयोग पद्धति में मौलिक अन्तर है। गद्यकार वाक्य विन्यास पर बल देता है, कवि शब्द और शब्द संयोजन पर। प्रयोग पद्धति के इस अन्तर के कारण ही गद्य और पद्य में अन्तर होता है जिसकी पुष्टि प्रपद्यवाद का ग्यारहवां सूत्र करता है।

'वाक्यपदीय' की एक दूसरी व्याख्या भी सम्भव है। इसकी संलग्नता स्फोट-वाद के अन्तर्गत वैयाकरणिक सिद्धान्तकारों से है, जिनमें भर्तृहरि सर्वप्रमुख हैं। पदार्थ तत्त्व-विवेचन प्रसंग में अपने महान् ग्रंथ 'वाक्य पदीयम्' में उन्होंने इस शब्द का अर्थ संश्लेषण इन शब्दों में किया है—'वाक्य पदीय वाक्यंच पद च पदेते अधिकृतं सूत्रं वाक्य पदीयम्'। इस प्रकार यह स्पष्ट किया जा सकता है कि प्रपद्य-वादियों द्वारा स्वीकृत और व्यवहृत इस सूत्र में प्राचीन 'वाक्य पदीय' की महान् स्थापना तथा आधुनिक रचना-प्रणाली समन्वित हो गए हैं। प्राचीन आर्ष परम्परा 'वाक्यपदीय' में प्रयुक्त दृक् शब्द दृष्टि अर्थ में ही प्रकृत हुआ है, जिसकी पुष्टि इस सूत्र में होती है—'ऋषय मंत्र द्रष्टार:'। प्रपद्यवाद भी इसे इसी रूप में स्वीकार करता है कि प्रपद्यवादी कवि वस्तु को अपनी दृष्टि और संगीत में देखता है। देखने की इस पद्धति का अर्थ-विस्तार प्रपद्यवाद के दसवें सूत्र के रूप में होता है।

प्रस्तुत सूत्र की टिप्पणी के रूप में Verbi Voco Visual method अंकित है। यह पदांश फ्रेंच-अंग्रेजी शब्दों के मेल से विनिर्मित है। इससे वाक्यपदीयता को *लक्षित किया गया है। Verbi Voco Visual* क्रमशः पद, ध्वनि और दृश्य के अर्थ में व्यवहृत हुए हैं। यह शब्द-विन्यास फ्रेंच-अंग्रेजी रचना-प्रक्रिया स्पष्ट करता है। संस्कृत काव्यशास्त्र तथा व्याकरण एवं प्रपद्यवादियों ने पहले दृष्टि, फिर ध्वनि और अन्त में पद की प्रणाली स्वीकार की है। इसके विपरीत फ्रेंच-अंग्रेजी-प्रणाली में पहले पद, फिर ध्वनि और अन्त में दृष्टि (दृश्य) को स्वीकार किया गया है।

इस सूत्र के विश्लेषण के अंत में 'पद'—सन्दर्भ में एक विशेष तथ्यात्मक आग्रह को देखना आवश्यक-सा है। प्रपद्यवाद के तीसरे कवि नरेश की मान्यता है कि कविता न तो भावों से लिखी जाती है और न विचारों से, अपितु यह शब्दों से लिखी जाती है। इस कारण प्रपद्यवाद में प्रयुक्त शब्द (पद) का अशेष महत्त्व हो जाता है। इस स्थिति में प्रपद्य-सूत्रकार केसरी कुमार की स्थापना है कि प्रपद्य-वाद तरह-तरह से वस्तु-संश्लेष को देखता है, और उसे नई संगतियों में देख सकने के कारण ही प्रपद्यवादी कवि अपने आधार के लिए नैतिक स्वीकृति पाता है। स्वीकृत संगतियों के व्यवहार में घिस-पिट जाने के कारण वे व्यंजक नहीं होती,

शब्द की भांति, प्रत्येक कवि प्रत्येक छन्द का निर्माता होता है। पूर्व सूत्र में यह प्रमाणित किया जा चुका है कि प्रपद्यवाद मुक्त काव्य नहीं, स्वच्छन्द काव्य है। अतः छन्दों की परम्परा से मुक्ति पाने पर कविता के लिए जिन छन्दों का स्वतंत्र प्रयोग किया जायेगा, वह कवि का अपना होगा। इस सूत्र की पंक्तिका में लिखा गया है—"जैसे चित्रकार वर्ण-योजना का, मूर्तिकार प्रस्तर-खण्ड का।"

यहां विशेष द्रष्टव्य है कि शब्द-निर्माता के दो अर्थ हैं—(क) एक तो उन शब्दों से तात्पर्य है, जिनका निर्माण प्रपद्यवादियों ने किया है, जैसे, 'धूलप' (धूल + धूप + लप), 'चित्रेतना' (चित्र + चेतना) इत्यादि। (ख) प्रपद्यवादी अपनी काव्य संगतियों के अनुकूल कोशादि से गृहीत शब्दों में अपेक्षित-अभीष्ट अर्थों को भरता है। ध्यातव्य है कि इस सूत्र में प्रथम (खण्ड-क) गौण और द्वितीय (खण्ड-ख) विशेष महत्त्वपूर्ण है।

10. प्रपद्यवाद दृष्टिकोण का अनुसंधान है :

प्रपद्यवाद के द्वादश सूत्र में प्रायः दृक्, दृष्टि, दृष्टिकोण, देखना शब्द व्यवहृत हुए हैं, जिनसे यह प्रकट होता है कि इस वाद के कवि दृष्टि या दृष्टिकोण के प्रति अत्यन्त सजग है और काव्य-रचना में इन्हें अपने लिए आवश्यक प्रेरणा और माध्यम-रूप में स्वीकार करते हैं। इस सूत्र में दृष्टिकोण शब्द का व्यवहार दो उद्देश्यों को सिद्ध करने के निमित्त हुआ है। वे हैं—

(क) प्रयोग की अनिवार्यता-सिद्धि का उद्देश्य,

(ख) प्रपद्यवादी कवि की रचना-प्रक्रिया को स्पष्ट करने का उद्देश्य।

(क) प्रपद्यवाद की दृष्टि में जीवन एक ओर अपार संभावनाओं का अक्षय भंडार है तो दूसरी ओर स्वयं जीवन स्थिर नहीं है। इसकी संगतियां और रूप बदलते रहते है। यह बदलाव प्रत्यक्षतः भौतिक रूपों में और अप्रत्यक्ष रूप से सांस्कृतिक परिवेश में होता है। प्रपद्यवाद के तीसरे कवि श्री नरेश की दृष्टि में तो किसी परम्परा की अधिकतम आयु एक सौ वर्षों की होती है। ऐसी स्थिति में यह असंभव है कि कोई व्यक्ति जीवन को एक साथ सम्पूर्णता में देख सके। इस कारण *खण्डों में विभक्त करके ही जीवन का अनुसंधान किया जा सकता है। जीवन को* खण्डों में विभक्त करके देखने की इसी स्थिति के कारण प्रयोग की अनिवार्यता भी स्पष्ट हो जाती है। वह इस अर्थ में कि सम्पूर्ण जीवन वह एक साथ पा नहीं सकता तथा सत्य को पाने की उसकी तीव्र लालसा है। अतः परिवर्तित परिवेश और बदलती मानसिक प्रवृत्तियों में सामंजस्य बिठाये रखने तथा सत्य को प्राप्त करने के लिए उसे प्राप्त जीवन खण्ड और वस्तु की स्थिति को सदैव प्रयोगात्मक अनु-संधान में देखते रहना होगा, ताकि वह खण्ड से प्राप्त सत्य के सहारे सम्[illegible] या सत्य की वास्तविक स्थिति को देख सके।

(ख) रचना-प्रक्रिया से सम्बन्धित दो विषय यहा द्रष्टव्य है—प्रथम यह कि प्रपद्यवाद वर्णनात्मक रूप की अपेक्षा चित्रात्मक रूप का समर्थक है। इसकी स्पष्ट धारणा है कि वर्णन गद्य का और चित्रण काव्य का गुण है। द्वितीय यह कि कवि (द्रष्टा) जब किसी वस्तु को देखता है, तब उसके मानस पर एक विशिष्ट भावच्छवि का निर्माण होता है। इस भावच्छवि पर कवि की अपनी मन स्थिति और आकांक्षाओ का बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। ऐसी स्थिति मे कवि जिस वस्तु (बिम्ब, कविता) को प्रस्तुत करता है, वह अपनी मूलावस्था मे नही होती, हो भी नही सकती। प्रश्न है, ऐसी स्थिति मे कवि करता क्या है? उसकी अवस्था क्या होती है? इन प्रश्नो का उत्तर है, वह एक विशेष स्थान और दृष्टि से वस्तु को देखता है। विशेष स्थान और विशेष दृष्टि ही उसका दृष्टिकोण है। दृष्टिकोण के लिए व्यवहृत अंग्रेजी शब्द 'Angle of Vision' द्वारा इसे समझा जा सकता है। दृष्टिकोण में दृष्ट (बिम्ब, कविता) और द्रष्टा (कवि) की सम्पूर्णता नही होती, अपितु एक खण्ड और विशेष अवस्था होती है। अपनी इसी रचना-प्रक्रिया के कारण प्रपद्यवादियो ने जीवन और स्थिति को विशेष दृष्टि (अपारम्परिक दृष्टि) मे देखा है। उदाहरणार्थ, आ० नलिन जी के दो प्रपद्य 'रामगिरि' और 'नवजातक' देखे जा सकते हैं। 'रामगिरि' मे अभिशापित यक्ष मे, मिलन-वेला की निकटता आने पर, उत्साह के स्थान पर उदासी आ जाना तथा यह सोचना कि मिलन सत्य नही, प्रतीक्षा ही सत्य है, जीवन को नये दृष्टिकोण मे देखने का प्रयास है। इसी प्रकार, 'नवजातक' मे हिरणी की व्याध के प्रति प्रदर्शित समानुभूति भी जीवन को देखने का नया दृष्टिकोण देती है।

सूत्र में 'अनुसधान' शब्द प्रयोग की साध्यता को पुष्ट करता है। 'प्रपद्यवाद दृष्टिकोण का अनुसंधान है'-का अर्थ है कि यह जीने की प्रयोगात्मक क्रियाओ का अनुसधान है। इस सूत्र की महत्ता द्वादश सूत्रो में अपेक्षाकृत एव स्वभावतः कुछ अधिक ही है, क्योकि इसके द्वारा प्रपद्यवादियों की प्रयोग को साध्य माने जाने की बात बलवती होती है।

11. प्रपद्यवाद मानता है कि पद्य में उत्कृष्ट केन्द्रण होता है और यही गद्य और पद्य में अन्तर है :

यह सूत्र गद्य और पद्य के अन्तर को स्पष्ट करता है। सूत्र की मौलिक उपयोगिता यह है कि पद्य के वास्तविक अर्थ को समझे बिना इसकी रचना और इसका अनुभावन सभव नही हो सकता। गद्य और पद्य दोनो साहित्य की दो शाखाएं है और भावों का वहन करते हैं, किन्तु दोनो की प्रकृति और माध्यम स्थिति मे अन्तर है। यह विचारणीय है कि साहित्य-मात्र की विकास-प्रक्रिया सरलता से जटिलता की ओर अग्रसर होती है। गद्य जटिलता मे बचाव का

माध्यम है।

संस्कृत मे गद्य-पद्य का अन्तर नही रखा गया है और काव्य शब्द मे दोनो की अर्थ प्रतीति कराई गई है, परन्तु ये दोनो सर्वथा अलग विधाएं हैं, यह इसी से प्रमाणित हो जाता है कि पद्य (काव्य) के समानान्तर गद्य का उद्भव और विकास हुआ। गद्य का जन्म अनायास और अकारण नही हुआ। किसी वस्तु का जन्म अनायास हो सकना तो सभव है, पर अकारण हो जाना सर्वथा असभव है। गद्य के उद्भव का एकमात्र कारण है, विशृंखलित जीवन को अभिव्यक्ति देना। आ० नलिन जी ने उपन्यास के उद्भव के कारण को प्रस्तुत करते हुए इस तथ्य की ओर सकेत किया था—"समृद्धि और ऐश्वर्य की सभ्यता महाकाव्य मे अभिव्यजना पाती है, जटिलता, वैषम्य और सघर्ष की सभ्यता उपन्यास मे।" (हिन्दी उपन्यास : विशेषत. प्रेमचन्द, पृ० 4) यहा 'उपन्यास' शब्द उपन्यास-मात्र के लिए प्रयुक्त न करके, गद्य के लिए प्रयुक्त किया जाए तो गद्य की स्थिति बहुत स्पष्ट हो जाती है। गद्य-पद्य के जन्म की परिस्थिति मे अन्तर का सीधा-सा अर्थ है कि इनकी रचना-प्रक्रिया मे भी अन्तर होना चाहिए। इस अन्तर को पैट्रिक डिकिंसन ने इस रूप मे स्पष्ट किया है—"मुझसे यह पूछा जाता है कि लोग कविता से घबराते क्यो है? जवाब मे मैंने कहा है, यह इसलिए कि कविता शब्दो का उसकी महत्तम शक्ति के साथ उपयोग करती है। प्रकाशन-सस्थान सभाषण-सूत्र आदि दैनदिन व्यवहार मे प्रयुक्त शब्द बहुत दुर्बल होते हैं। मैं इस बात को दूसरे ढग से कहना चाहूगा। दो चषक लिए जाए। एक मे जिन शराब अगुली भर डाली जाए और चषक के शेष भाग को पानी से पूरा भर दिया जाए, दैनदिन व्यवहार के शब्द ये ही है। दूसरे चषक को केवल 'नीट जिन' से भर दिया जाए, ये ही कविता के शब्द हैं। मेरा अभिप्राय यह नही है कि कविता भयकर मदहोशी पैदा करने वाली चीज है, मेरा तात्पर्य भिन्न है। दोनो चषको की शराब देखने मे समान लगती है। बहुत से लोग जब समान दीखने वाली इन दोनो चीजो का अनुभव अलग-अलग करते हैं तो कविता उनके लिए कड़वी सिद्ध होती है। पहले सामान्य दीखने वाली और फिर मदहोशी, झकृति और झटका पैदा करने के कारण कविता को लोग पसद नही करते।" (Patric Dickenson, Broadcast Talk, The Listener, 23 July, 1953)

स्पष्ट है कि कविता मे शब्द अपनी महत्तम शक्ति रखता है। गद्य मे यह सभव ही नही होता। कारण यह है कि पद्य मे सश्लेषण और गद्य मे विश्लेषण की क्रिया होती है, इसे ही पूर्व मे चित्रण और वर्णन क्रिया कहा गया है। पद्य और गद्य मे अन्तर रचना और बोध-प्रक्रिया के कारण भी है। पद्य मे रचना-प्रक्रिया सघनन की ओर और बोध-प्रक्रिया वाष्पीकरण की होती है। संघनन से अभिप्राय है, शब्द और भाव का केन्द्रित हो जाना। इससे अलग वाष्पीकरण का अर्थ है, भावों का

सूक्ष्म रूप में रूपांतरित होकर, पाठक-द्वारा उन्हें अपनी आवश्यकताओं और अपेक्षाओं के आधार पर ग्रहण करना। वाष्पीकरण और सघनन विज्ञान के शब्द हैं। वाष्पीकरण में पदार्थ सूक्ष्म और गैसीय अवस्था में रहता है। सघनन में गैसीय अवस्था में रहने वाली विविध इकाइयां एक स्थान पर एकत्र होती हैं, जिसमें वे अपने पृथक् अस्तित्व को छोड़कर मिलती हैं। इन दोनों में एक मौलिक अन्तर यह भी है कि पद्य में रागात्मक सगतियों को अपेक्षित माना जाता है, गद्य में इसकी आवश्यकता नहीं होती।

इस सूत्र-विश्लेषण का संकेतार्थ यह है कि गद्य में प्रयुक्त शब्द अपनी अर्थ-सम्पदा को अपनी सम्पूर्णता में न तो सृजित कर पाता है और न आवश्यक अनुपात में बोध उत्पन्न कर पाता है। अत. उत्कृष्ट केन्द्रण मात्र कविता में होता है। प्रपद्यवाद की इस स्थापना को शताब्दिपूर्व गोस्वामी तुलसीदास 'वर्णानामर्थ-संघानाम्' के रूप में रामचरित मानस के अति प्रारम्भ में ही कह चुके हैं। संस्कृत काव्यशास्त्र में 'रसात्मकं वाक्यं काव्यं' कहकर काव्य को परिभाषित करने का यत्न हुआ था। परिभाषा में सचाई है, पर अपने प्रकार की। 'रसात्मकता' से काव्य की आत्मा को प्रकाशित किया गया है। काव्य की आत्मा रस ही नहीं, अलंकारवादियों के लिए अलंकार, ध्वनिवादियों के लिए ध्वनि आदि भी तो है। 'उत्कृष्ट केन्द्रण' के द्वारा काव्य के रूप को तटस्थ रूप में देखने का यत्न किया गया है। यह भले ही काव्य की आत्मा नहीं हो, किन्तु, इसके द्वारा पद्य (काव्य) की रचना और बोध-प्रक्रिया स्पष्ट होती है। प्रपद्यवाद का यह सूत्र इस अर्थ में महत्त्वपूर्ण है कि, इसी उत्कृष्ट केन्द्रण के कारण, आज के इस विशृंखलित युग में, जिसे हम 'गद्य काल' मानते हैं, काव्य गद्य से पराजित नहीं हो पाता।

इस सूत्र के संवर्द्धन में आया इसका शेषांश 'फक्किका' द्रष्टव्य है। इसमें कहा गया है—'Ditchen Condensare', इसका अर्थ यह है कि 'पद्य के लयात्मक और सांगीतिक उपादानों के फलस्वरूप उसमें अतिरिक्त शब्दों के बिना ही रागात्मक घनत्व सन्निविष्ट हो जाता है।'

12. प्रपद्यवाद मानता है कि चीजों का एकमात्र सही नाम होता है :

प्रपद्यवाद-दर्शन का यह अन्तिम सूत्र है। इस सूत्र की इसकी फक्किका 'Mot Juste, Flaubert' पुष्ट करती है। 'Mot Juste' उचित-उपयुक्त का फ्रेंच अनुवाद है।

प्रस्तुत सूत्र प्रपद्यवाद की रचना-प्रक्रिया को स्पष्ट करता है। इस वाद के अनुसार कविता भावों या विचारों से नहीं, शब्दों से लिखी जाती है, अतः शब्द प्रयोग की उपयुक्तता पर महत्तम ध्यान देना आवश्यक है। इसकी आवश्यकता प्रपद्यवादी दर्शन-सूत्र-संख्या एक, छह, सात, नौ और ग्यारह की समग्रता में और

भी स्पष्ट हो जाती है। एक उदाहरण इसके सातवें सूत्र की परिधि में दिया जा सकता है। उक्त सूत्र में वाक् जिस प्रकार से अभिव्यंजनात्मक स्फोट की शक्ति रखता है, वह तभी संभव है, जब शब्द-प्रयोग उचित-उपयुक्त हो। नौवें सूत्र की व्याख्या के प्रसंग में हमने साहित्यकार को 'Man of Letters' की संज्ञा के अधिकारी रूप मे देखा है। यह भी तभी संभव है, जब शब्द-प्रयोग उचित-उपयुक्त हो।

इस सूत्र की व्यवस्थानुसार रचनाकार अपनी अनुभूति-परिधि मे आयत्त वस्तुओं को संगति-सम्मत नाम देता है। घटना-विशेष प्रभावान्वित-विशेष अथवा अनुभूति-विशेष में, वस्तु-मात्र को रचनाकार एक सही नाम देता है। उस वस्तु-विशेष के अनेक नाम (पर्याय) हो सकते हैं, तथा एक शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं; किन्तु रचनाकार नामो और अर्थों के विस्तार मे से वस्तु-विशेष को एक नाम और अर्थ में अपने कविता-सन्दर्भ मे नियन्त्रित कर देता है। यह क्रिया एक निश्चित अनुशासन और व्यवस्था के अधीन होती है। शब्द भावो और अर्थों के प्रतीक होते हैं। ये कागज पर चिह्न-मात्र हैं। इस कारण मुख्य विचारणीय शब्द और अर्थ नही, शब्दो की प्रतीक-प्रक्रिया है। डॉ० जगदीश मिश्र की एतत् सम्बन्धी स्थापना यहां देखी जा सकती है—"सूक्ष्म विचारो को नाम देना मनुष्य का स्वभाव है। इसकी उत्पत्ति और स्वभाव के सम्बन्ध मे नाना प्रकार की कल्पनाएं की जाती है। भारतीय दार्शनिकों का सिद्धान्त है—

> अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंश पञ्चकम्।
> आद्यं त्रयं ब्रह्म रूपं माया रूपं ततो द्वयम्।
> (शुक्ल यजु० 31.22)

ब्रह्म और माया का स्वरूप अस्ति, भाति, प्रिय, रूप और नाम—इन पांच अंशों में (विभक्त) है। प्रथम तीन ब्रह्म के रूप है और शेष दो माया के रूप हैं।

दार्शनिक पद्धति छोड़कर, यदि लौकिक रीति से, इसे समझने की चेष्टा की जाए तो सीधे शब्दो मे इसका अर्थ इस प्रकार होगा—कोई वस्तु है (अस्ति), उसका हमे बोध होता है (भाति), वह हमें अच्छी लगती है (प्रिय), उसके रूप की हम कल्पना करते है और उसे नाम देते है।"[13]

यहां यह बात सामने लाई गई है कि किसी वस्तु, भाव या विचार के पर्यावलोकन या अनुभावन के उपरान्त हम उसे नाम देते हैं। पर्यावलोकन और अनुभावन की क्रिया सूक्ष्म और गहरी चेतना की क्रिया है। इस कारण सूक्ष्म और गहरी चेतना को ठीक-ठीक अभिव्यक्त हम तभी कर सकते हैं, जब उसी भाव और सन्दर्भ को स्पष्ट करने वाले शब्द के द्वारा उसे प्रतीकित कर दिया जाए। यहां अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता होती है। यदि ठीक उसी भाव (accurate

feeling) को ठीक उसी शब्द (accurate word) के द्वारा अभिव्यक्त नही किया गया तो अनुभावन और अभिव्यक्ति में गहरा अन्तर हो जाएगा। प्रपद्यवाद इस स्थिति को काव्य के विपरीत मानता है और इसीलिए चीज (भाव) के लिए सही नाम (शब्द) की आवश्यकता अनुभव करता है।

एक दृष्टि-विशेष-द्वारा भी इस सूत्र को समझा जा सकता है। जगत् और जीवन नाम रूपात्मक है। जगत् और जीवन का प्रतिबिम्बात्मक अस्तित्व रखने के कारण साहित्य भी नाम रूपात्मक है, किन्तु जीवन-जगत्-साहित्य के इस त्रिकोण मे एक अन्तर भी है। जीवन और जगत् मे रूप के नाम होते है। इसके विपरीत साहित्य मे नाम के रूप होते है। यहां रूप फलानुभूति है और नाम उसे उत्पन्न करने वाला उपादान कारण और कवि इन दोनो का प्रयोक्ता।

प्रपद्यवाद : आलोचना के घेरे में

यह स्वाभाविक है कि प्रपद्यवाद को भिन्नशः आलोचनाओं के घेरे मे आना पड़ा। कुछ आलोचनाएं तो मात्र आलोचना के रूप मे आई, कुछ प्रपद्यवाद को उसे सही रूप में न समझ पाने के कारण या समझते हुए भी न समझ पाने की मानसिकता के कारण और कुछ विधायक आलोचनाए भी उपस्थित की गई। केसरी कुमार जी ने उन आलोचनाओ का सकलन कर उन्हें इस रूप में उपस्थित किया है—

(1) प्रयोगवादी रचनाएं काव्य की परिधि मे नही आती। वे बुद्धिवाद मे ग्रस्त हैं। वे वैचित्र्य प्रिय हैं, वृत्ति का सहज अभिनिवेश उनमे नही है।

(2) उनकी उलझी सवेदनाओ की अभिव्यक्ति से जाहिर है कि वह (प्रयोगवादी) अनिश्चित मानसिक स्थिति का व्यक्ति है और काव्य को वास्तविक भावभूमि पर पहुंचने मे अक्षम है।

(3) प्रयोगवादी रचनाएं वैयक्तिक अनुभूति के प्रति ईमानदार नही हैं और सामाजिक उत्तरदायित्व को भी पूरा नही करती।

(4) ये कविताएं अनिवार्य रूप से नही, सिद्धान्त रूप से भी दुरूह हैं। इनमे साधारणीकरण का अभाव है।

(5) इनमे भाषा का सर्वदा व्यक्तिगत अर्थात् अनर्गल प्रयोग होता है।

इन अभियोगों के अतिरिक्त अज्ञेय की स्थापनाओं, डॉ० रघुवंश, शिवदान सिंह चौहान आदि के तर्कों को लेकर कुछ प्रश्न उठाये गए—

(1) क्या प्रयोगवाद कोई वाद है?
(2) यदि हां, तो उसका उद्देश्य क्या है?
(3) क्या बौद्धिकता से काव्य का विरोध है?
(4) क्या उलझी संवेदनाओ (मेरा मतलब complex sensibilities से है,

जिसको अज्ञेय ने आपद्धर्मी तौर से 'उलझी संवेदना' कहकर हिन्दी में कमज़ोर अनुवाद कर दिया) के कारण कोई कवि नही हो सकता या क्या काव्य सरल संवेदनाओं तक ही सीमित रहता है ?

(5) अपनी वैयक्तिक अनुभूति और समाज के प्रति कवि का उत्तरदायित्व क्या है ?

(6) क्या साधारणीकरण और सुबोधता काव्य के धर्म है ?

(7) क्या भाषा का वैयक्तिक प्रयोग अधर्म है ?

(8) प्रयोगवाद की क्या आवश्यकता है, क्या उपयोगिता है ? [30]

ध्यातव्य है कि उपर्युक्त आलोचनाओं में से कतिपय ऐसी हैं जो व्याख्यापेक्षी नहीं हैं। जैसे क्या प्रपद्यवाद कोई वाद है, उसका उद्देश्य क्या है, उसकी क्या आवश्यकता थी, क्या उपयोगिता है ? आदि। ये प्रश्न ऐसे हैं, जिनके उत्तर प्रयोगवाद के विकास क्रम में देखने का उपक्रम हमने किया है। कुछ प्रश्न अवश्य ही व्याख्यापेक्षी हैं। उनका अनुचिन्तन क्रमश. आवश्यक है।

प्रथम प्रश्न है—प्रयोगवादी काव्य की चौहद्दी में नहीं आते। कारण यह है कि वे बुद्धिवाद से ग्रस्त हैं, वैचित्र्य प्रिय है, वृत्ति का सहज अभिनिवेश उनमें नहीं है। 'काव्य की चौहद्दी' क्या है ? इसे समझने के लिए काव्य को समझना होगा, लेकिन क्या काव्य को समझना सरल है ? जबकि इसकी अनेक परिभाषाएं, विभिन्न वृत्तियों, प्रयोजनों और युगीन परिस्थितियों से प्रभावित होकर दी गई है ? इसे शास्त्र, मनोविज्ञान, दर्शन आदि विभिन्न कोणों से देखा गया है। हम तो इस स्थापना को पूर्ण मानते है कि काव्य कवि कृत्य है, वह जो कुछ भी लिखे, काव्य है (कवेरिद कर्म भावो वा (घञ्) मेदिनी कोश)। वैसे परिभाषा रूप में ही देखना चाहेंगे तो कहेंगे कि कविता को परिभाषित करने के लिए दो पारपरीन प्रमाण मिलते है। एक तो काव्यशास्त्रीय प्रमाण, जिसके अनुसार काव्य में रस, ध्वनि, अलंकार, वक्रोक्ति, औचित्य, रीति, शब्द शक्ति, छंद, लय, गुण इत्यादि का होना आवश्यक है। इसी परिभाषा प्रक्रिया में शिल्प, शैली, स्थापत्य, शब्दार्थ तत्त्व आदि के उल्लेख भी हुए हैं। दूसरी कतिपय स्वतन्त्र परिभाषाएं हैं जिनके माध्यम से स्वतन्त्र रूप से कविता को परिभाषित किया गया है। संस्कृत के आचार्यों ने इसकी परिभाषा शास्त्रीयता से जोड़ी है। हिन्दी परम्परा में परिभाषा प्रक्रिया अधिकांशत. शास्त्र मुक्त रही है, यद्यपि शास्त्रीयता का पूर्ण लोप यहां भी नहीं है। यहां आत्मविश्लेषण, अनुभूति, व्यंजना शिल्प, मनुष्यता आदि विचारों को भी परिधि में लाया गया है। अंग्रेजी परिभाषाओं में, शास्त्रीयता के अतिरिक्त समाज शास्त्र, कला, मनोविज्ञान, विज्ञान, सौन्दर्यशास्त्र, राजनीति विज्ञान, भाषा शास्त्र, दर्शन इत्यादि के प्रभूत प्रभाव है। निष्कर्ष यह है और स्वाभाविक भी है कि काव्य को न तो किसी परिभाषा में बांधा जा सकता है, और न ही उसकी चौहद्दी निर्मित की

जा सकती है। ऐसी ही स्थिति में प्रपद्यवादियो के लिए कविता सर्वतन्त्र स्वतन्त्र है और इसका कवि किसी वाह्य उपादान और विधान से स्वयं को बधा नही पाता। इस सन्दर्भ मे प्रसिद्ध अमेरिकी कवि और कला समीक्षक जॉन एशबरी के विचार देखे जाने चाहिए—"मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि कविता किसी और वस्तु को सूचित करे, इसकी पूर्वप्रतिज्ञा ही है कि वह पहले आत्म निर्देशी हो। लगता है, बहुत से लोग यह मानकर चलते है कि कवि को निबन्धकार की तरह एक विषय चुनना चाहिए और तब उस विषय का निर्वाह करते हुए किन्ही निष्कर्षों तक पहुचना चाहिए ताकि सारा मामला इस तरह सुलझ जाए कि सबको संतोष हो जाए। किन्तु कविता, जैसा कि वारम्बार कहा गया है, विचारो से नही, शब्दो से लिखी जाती है। वह वस्तुत. भाषा का मामला है। पेंटिंग से इसकी समानता देखी जा सकती है, क्योंकि कोई भी चित्र रचना एक सार्थक वक्तव्य नही देने बैठती।"[31] जॉन एशबरी की इस स्थापना के सम्पर्क मे आते ही यह प्रश्न समाप्त हो जाना चाहिए कि कविता की कोई निश्चित परिधि और चौहद्दी होती है या होनी चाहिए। वस्तुतः कविता कवि के लिए आत्म-निर्देशी होती है, और इसी के प्रति कवि उत्तरदायी होता है। बस कविता को मात्र कविता होनी चाहिए न कि किसी चौहद्दी वाली कविता। मलयालम भाषा के सुप्रसिद्ध कवि अय्यप्पा पणिक्कर तो कविता के लिए किसी परिभाषा की आवश्यकता ही नही समझते : "क्या कोई यह कहकर इस सवाल को टाल सकता है, कि अच्छी कविता जैसी कोई चीज नही होती ? शायद कोई ऐसा महसूस करे। पर बेशक अच्छी कविताएं हैं यद्यपि उन्हे अच्छी इसलिए नही कहा जाता कि वे कविता के अच्छे होने की किसी निश्चित धारणा की हा मे हा मिलाती है। कोई यह भी कह सकता है कि अच्छी कविता वह है जो तयशुदा परिभाषाओ को ठेंगा दिखाती है। परिभाषा हमेशा परिभाषित के बाद ही आती है। अलावा इसके परिभाषाए स्वय परिभाषित नही होती। अच्छी कविता की धारणा एक भरमाने वाली चीज है, ठीक अच्छी कविता की तरह।

हर अच्छी कविता, एक नई यात्रा की शुरुआत है। वह अपने मे एक नई परिभाषा समोए है, जिसे किसी दूसरी अच्छी कविता पर लागू नही किया जा सकता। अगर कोई परिभाषा तमाम कविताओ पर लागू की जाए, वह तो इस कदर सामान्य हो जाती है कि किसी काम की नही होती। परिभाषाओ के खोजकर्त्ता असफल होने के लिए अभिशप्त हैं।

एक अच्छी कविता को, कहा जा सकता है मौलिक होना चाहिए। उसे बुरे कवि को तरसाना चाहिए। उसे सहृदय या आदर्श पाठक के दिमाग मे हवा की तरह घुस जाना चाहिए, इससे पहले कि उसे उसकी शिनाख्त या कवि का वक्त मिले।

सक्षेप मे, एक अच्छी कविता को, एक अच्छी कविता होना चाहिए।"[32]

ऐसी स्थिति मे, प्रश्न यह बचता है कि आलोचकों ने प्रपद्यवाद पर यह आरोप क्यों लगाया कि यह किसी काव्य की चौहद्दी मे नही आता ? क्या इसका अभिप्राय यह है, कि इस वाद में काव्यशास्त्रीय तत्त्व और वैशिष्ट्य नही है ? क्या इसमें अर्थ, शब्द-शक्ति, अभिव्यजना-कौशल, छद, ध्वनि और रस आदि सर्वथा अनुपस्थित है ? प्रपद्यवादियो के प्रपद्य देखकर तो ऐसा निश्चित रूप से नही लगता। तब 'चौहद्दी' से उनका अभिप्राय क्या है ? क्या वे काव्य को किसी सामाजिक-राजनीतिक-दार्शनिक परिधि मे बाध देना चाहते है ? कदाचित् यही सत्य है। कदाचित् प्रपद्यवाद की प्रयोग-साध्यता उन्हे रास नही आती।

'चौहद्दी' की बात करने के पूर्व एक अति छोटे किन्तु, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर विचार कर लेना चाहिए। प्रश्न यह है कि प्रपद्यवादी कवि जीवन की किसी अशेष मार्मिकता का उद्घाटन क्यों नही करते ? क्या उनके पास कुछ कहने को नही है ? यदि है, तो मात्र इस कारण कि वह बुद्धिवादिता, वैचित्र्यप्रियता, आदि गुणो के कारण ही काव्य की चौहद्दी मे आने से रोके जा सकते है ? और यदि यही आधार है कि इसे काव्य की चौहद्दी में नही आने देना चाहिए, तो क्या कबीर; रहस्यवादी, छायावादी काव्य की चौहद्दी मे आ सकते हैं ? तब तो कविता—

रेल हमारी लिये सवारी
काशी जी से आयी है,
हरे-हरे कुछ पीले-पीले
आम वहां से लायी है।

जैसी पंक्तियों से कभी भी आगे नही बढ सकती। कहना चाहिए कि उक्त आरोपण समीक्षा शास्त्र की किसी भी मान्य कसौटी पर, किसी भी रूप मे, किसी भी तटस्थ, चेतना-सम्पन्न व्यक्ति द्वारा ग्राह्य नही हो सकता। जहा तक बुद्धि के सहज अभिनिवेश की समीचीनता की बात है, आगत बिन्दुओ मे चर्चा होगी।

प्रपद्यवाद पर दूसरा गभीर आरोप 'उलझी सवेदना' को लेकर है। इस पर यह अभियोग है कि इस वाद के कवि मानसिक दृष्टि से अनिश्चित स्थिति के व्यक्ति हैं। सलग्न आरोप यह है कि वे काव्य की वास्तविक भावभूमि पर पहुचने मे असमर्थ हैं। इन दोनो प्रश्नो पर सम्मिलित विचार स्वाभाविक होगा। प्रारम्भ इससे करें कि 'काव्य की वास्तविक भावभूमि' क्या है ? काव्य की वास्तविक भूमि क्या सरल सवेद्य अभिव्यक्ति-पक्ष से सम्बन्धित है ? या काव्य के लोकोत्तर आनन्द भूमि मे पहुचने से है ? यदि ऐसा ही है तो प्रपद्यवाद पूर्ण उत्तरदायीभाव से यह बात स्वीकार कर लेता है कि वह इस अपेक्षा की कथमपि पूर्ति नही कर सकता। साहित्य द्विधा विभक्त कर्म है, जिसका एक छोर कवि अपनी सवेदना और अनुभूति

से और दूसरा छोर युग-धर्म से बांधता है। इस स्थिति में वर्तमान युग की सापेक्षता में, जब सब कुछ भाव-संश्लिष्ट है और सामाजिकों पर बहुकोणीय असह्य दबाव हैं, सवेदना उलझ ही जायेगी, और संवेदना की इसी उलझन में से 'मुक्त आसग' (Free Association) जन्म लेता है। यदि उलझी सवेदना से यह ध्वनित हो, कि चूंकि सवेदना उलझी हुई है, तो फिर अभिव्यक्ति और प्रतिपाद्य भी स्पष्ट नही होंगे, विचारों के वात्याचक्र में खोने और भटकने के अतिरिक्त और कुछ नही होगा। आ० नलिन जी का गीत शीर्षक एक प्रपद्य है। कुछ पंक्तियां उद्धृत हैं—

दृष्टि जा पाये जहा तक
सामने हो भूमि ऐसी
सिर्फ बालू, धूल
जिसमे दूर-दूर बबूल
शूलमय दो-चार दीखें।

या,

सामने प्रतिपल रहो तुम
सामने, या, भूमि ऐसी—
और ऐसी ही दिशाएं, वायु ऐसी।

अभिव्यंजना-पक्ष की सरलता और कला की अनिवार्यता को स्वीकार करने का भाव लेकर कविवर पन्त जी की एक बहुख्यात कविता 'वाणी' है। कुछ पंक्तिया देखी जाएं—

युग धर्म शब्द, युग रूप शब्द, युग सत्य शब्द,
शब्दित कर भावी के सहस्र शत मूक अब्द,
ज्योतित कर जन-मन के जीवन का अन्धकार,
तुम खोल सको, मानव-उर के नि शब्द द्वार,
वाणी मेरी, चाहिए तुम्हे क्या अलंकार!

पंत जी और नलिन जी की दो काव्य रचनाएं आमने-सामने हैं? पाठक असहजता कहा पायेगा? निश्चित है, कि पत जी की कविता मे पाठक स्वभावतः असहज हो उठेगा। पर, उन पर या उन-जैसे कवियो पर काव्य की वास्तविक भूमि पर नही पहुच पाने का आरोप नही लगेगा। नलिन जी के उद्धृत प्रपद्य को देखा जाय, कि यहां सवेदना कहां उलझी? और क्या इसे हम काव्य की चौहद्दी से बाहर रखकर काव्य के प्रति न्याय कर सकेंगे? क्या यह कहा जा सकेगा कि इस प्रकार की रचना के बाद भी हम इस आरोप को स्वीकार कर सकेंगे कि यह वाद काव्य की वास्तविक भूमि पर पहुंचने मे असमर्थ है? हां, यदि इसमे प्रयुक्त 'मुक्त आसग' प्रयोग के कारण सवेदना के उलझ जाने का आरोप हो, तो इसमे बहुत अधिक बल

नहीं है। कारण कि, युगीन परिवेश और आवेष्टन से मनुष्य की जो मनोवैज्ञानिकता बनी है, उससे भागा नहीं जा सकता। अब तो वह स्थिति आ नहीं सकती कि कवि वन-प्रांतर मे रमता हुआ, सामाजिक-पारिवारिक उत्तरदायित्वों (जबकि वे सीमित और बहुत थोड़े थे) से स्वयं को बचाकर, एक प्रकार से तापस जीवन बिताते हुए, काव्य-रचना-साधना करे। आज का कवि ऐसा नहीं कर सकता। अत उसके सामने सवेदनाओं का विपुल भण्डार और आवेष्टन रहेगा ही। वह इसे 'मुक्त आसग' द्वारा अभिव्यक्त करता है, तो उसका क्या दोष? नलिन जी का एक और प्रपद्य 'निशि विहग' विचारार्थ उपस्थित है। कवि घर मे जगा हुआ है। वह सोचता है, रात मे केवल उल्लू जागता है, या चोर। पुन: उसके मन मे कौंधता है कि वह भी तो जगा हुआ है। क्या वह निशि विहग है? तभी उसे मुक्त आसग के द्वारा ध्यान आता है

> या, फिर, बदकिस्मत मेरी ही
> तरह, जो रात मे जगना
> पड़ता, क्योकि दवा लानी है,
> घर मे रोगी हैं मरणा—
>
> सन्न।

मूल स्थिति यह है कि वह जगा हुआ है और उसकी मानसिक चिन्तन-धाराएं विभिन्न दिशाओं मे चलती हैं। यह स्वाभाविक है, क्योकि आज के मनुष्य के पास सवेदना के साथ सवेदित होने के बहुविध आयाम हैं, समास रूप मे यह निवेदन किया जा सकता है कि प्रपद्यवाद पर 'उलझी सवेदना'—जैसा आरोप युग-चेतना और उसकी स्वाभाविकता निरर्थक तथा अनावश्यक है। 'उलझी सवेदना' वाली समस्या के मूल मे कवि-कर्म को अलौकिक कर्म मान लेने की हमारी अभ्यस्ति है। क्या आज का मानव इसे स्वीकार कर सकेगा? केसरी कुमार जी द्वारा प्रस्तुत समाधान देखे जाए—"कविता प्राकृतिक आवश्यकता के रूप मे उद्भूत हुई, किन्तु सवेदनाओं के व्यवस्थित रूप की अभिव्यक्ति के लिए नहीं, वरन् उसका जन्म सवेदनाओ के अऋजु, सम्पूर्ण, सक्षिप्तातिसक्षिप्त और चरम केन्द्रित प्रत्यक्षीकरण के अनिवार्य माध्यम के रूप मे हुआ। यही कविता को अन्य साहित्यागो से अलग करता है।[33] और वास्तविक भूमि 'साधारणीकरण' के प्रसग मे, 'साधारणीकरण का माध्यम आज भी स्वीकृत होगा, इसमें सदेह है।[34] विस्तृत स्पष्टीकरण के लिए प्रस्तुत उद्धरण देखा जाना चाहिए—"आज एक आदमी का दूसरे आदमी से यथार्थ सम्पर्क रखना मनोवैज्ञानिक मानी मे अत्यन्त कठिन हो गया है। प्रेषण के अत्यन्त सुगम साधनों से व्यक्ति के अनुभव इतनी जल्दी से विस्तृत हो रहे है कि केन्द्र (आत्मा) और वृत्त (मनोवैज्ञानिक कल्पना) का सम्बन्ध ही टूट जाने के खतरे मे पड़ गया है। काव्य

प्रत्यक्ष निष्कर्ष है और उसका बड़ा काम मनुष्य की भाव-ग्रहण शक्ति का विकास होना है। लेकिन जिस समाज के माध्यम से वह परम्परा की सिद्ध शक्ति लेता है, वह आज विशृंखल और खण्ड-खण्ड है। उसके सम्बन्ध अपरिमित रूप से विस्तृत होकर अनिश्चित हो गए हैं। कल्पना और मूल्य को इस विस्तृत क्षितिज पर टिकाव नहीं मिल रहा है। कवि के निष्कर्ष बराबर इन नयी सभ्यता की उपलब्धियों और जटिलताओं में उलझते हैं। और वह इन जटिलताओं के बीच काव्यात्मक निर्मिति के लिए एक केन्द्रीय शांति खोजता है, एक ऐसा बिन्दु जहां से वह फिर शुरू करे। (A Hoper for poetry C. Day Lewis) ऐसी स्थिति में आप उसमें व्यवस्थित या सरल आवेगों की मांग नहीं कर सकते, क्योंकि तब उसका अर्थ जीवन से ही भागना होगा।"[35] निष्कर्ष यह कि जटिल संवेदनाओं को लेकर भी कवि बना रहा जा सकता है और आज काव्य इसी रूप में ज्यादा जी सकता है। आज जीवन की जटिलताओं की व्याख्या व्यक्ति केन्द्र में करने की अनिवार्यता है, नहीं तो कविता के स्वयं ही मर जाने की आशंका है।

इसी व्याख्या में इस प्रश्न का उत्तर है कि प्रयोगवादी कवि वैयक्तिक अनुभूतियों के प्रति ईमानदार नहीं हैं, और सामाजिक उत्तरदायित्व को भी पूरा नहीं करते। समझा जा सकता है, कि यह आरोप अपने-आप में स्वयं उलझा हुआ है। कवि वैयक्तिक अनुभूति के प्रति ईमानदार रहे या सामाजिक उत्तरदायित्वों के प्रति? क्या ये दोनों एक साथ सम्भव हैं? क्या वैयक्तिक अनुभूतियां और कबीर की अखण्डता एक साथ चल सकती है? क्या ऐसी अवस्था में काव्य-कला अपनी संवेदना सुरक्षित रख सकेगी? जब समाज का कोई व्यक्ति किसी स्तर पर स्पष्ट नहीं है, तो कवि से स्पष्टता की बात क्यों की जाती है? इसका अर्थ यह न लिया जाए कि हम प्रपद्यवादियों पर अस्पष्टता का आरोप करते हैं। हमारा अभिप्राय है कि आज रचनाएं संवेदित होने के लिए छोड़ देती हैं, भावों का आरोपण नहीं करतीं। प्रपद्यवाद का एक प्रसिद्ध सूत्र ही है कि वह पाठकों की स्वतन्त्रता को वापस लौटा देता है। यदि यह कहा जाय कि सामाजिक आग्रह का अभाव है, तो आलोचक को 'किंकरीट मिश्र' (आ० नलिन विलोचन शर्मा) एवं 'वेदना निग्रह रस' (श्री नरेश) के प्रपद्य देखने चाहिए।

प्रपद्यवाद पर एक अन्य आरोप यह है कि इसकी रचनाएं अनिवार्य रूप से ही नहीं, सिद्धान्त रूप से भी जटिल हैं। इस अभियोग पर विचार करने के पूर्व हम केसरी कुमार जी का एतत् सम्बन्धी स्पष्टीकरण प्रस्तुत करना चाहेंगे: "यहां कहना सिर्फ यही है कि प्रयोगवादी रचनाएं अनिवार्य रूप से ही दुरूह हैं, सिद्धान्त रूप से नहीं, और हम साधारणीकरण के पुराने सिद्धान्त को उस रूप में अपर्याप्त मानते हैं'''साथ ही नवीन सिद्धान्त को इस रूप में भी अपर्याप्त मानते हैं कि जहां प्राचीन काल में साधारणीकरण का अर्थ वह प्रक्रिया था जिसमें सामाजिक रसोपलब्धि करते थे वहां आज इसका अर्थ यह निश्चित मान है कि कविता जन-

साधारण तक पहुंचे ही जैसे कभी पहुची हो।"[38]

निश्चित तथ्य यह है कि दुरूहता का प्रश्न प्रेषणीयता मे जुड़ा हुआ है। प्रेषण क्रिया एक निरपेक्ष योगी की क्रिया नही है। यह एक साथ ही प्रेषक (रचनाकार, दाता) और प्रेषित (पाठक और ग्राहक) सापेक्ष है और इन दोनों की सम्मिलित योग्यता पर ही प्रेषणकार्य की सफलता निर्भर करती है। अत यह आवश्यक है कि इन दोनों पक्षों पर नातिदीर्घ विचार किया जाए।

रचनाकार की स्थिति, प्रेषणीयता के सन्दर्भ मे, अनुभूति और अभिव्यक्ति की दो दिशाओ से सम्बन्ध रखती है। प्रेषणीयता के लिए अनुभूति की ईमानदारी या परिपक्वता की अपेक्षा होती है। अभिव्यक्तिगत सफाई और सुलझाव भी आवश्यक होते हैं। ये दोहरे साधन हैं। अनुभूति यदि अपरिपक्व है तो अभिव्यक्ति का सुलझाव व्यर्थ है। इसके विपरीत यदि अनुभूति परिपक्व है और अभिव्यक्ति परिपक्व नही है, तो भी प्रेषणीयता असभव है। प्रपद्यवाद की दुरूहता की घोषणा करते समय यह बताना चाहिए कि दुरूहता का जो प्रश्न उठाया जाता है, वह कवि की अनुभूति से सम्बद्ध है या अभिव्यक्ति से अथवा दोनो से ?

यह भी तो सम्भव है कि अनुभूति और अभिव्यक्ति की अतिशय सबलता और परिपक्वता के बाद भी दुरूहता वर्तमान रहे और प्रेषणीयता आ नही पाये। वस्तुत यह केवल कवि कर्म नही है, दाता और ग्राहक, कवि और पाठक जब तक रहेंगे, दुरूहता और प्रेषणीयता की समस्या वर्तमान रहेगी। लेविस ने कहा था "कविता समझना उतना ही श्रमसाध्य है, जितना कविता लिखना। दोनो मे केन्द्रीकरण की एक सी अनिवार्यता है। इसके लिए विज्ञ पाठक को भी दीक्षित (Tutored) होना पड़ेगा। नई अनुभूतियां, नई कथन भगिमाए, नए बिम्ब-विधान, नई प्रतीक योजनाए और अप्रचलित शब्द शक्ति के स्थान पर शब्दार्थ संकेतो का चयन यदि प्रेषणीयता को उलझाते है, तो कवि को दुत्कारने के पूर्व यह उचित होगा कि पाठक अपनी पात्रता का भी मूल्यांकन करे।" इसी सन्दर्भ मे डॉ० कुमार विमल की प्रस्तुत स्थापना को भी ध्यान मे रखना होगा—"नई कविता (विशेषता प्रयोगवादियो और प्रपद्यवादियो की कविता) मे अस्पष्टता, दुरूहता या जटिलता के कारण जो प्रेषणीयता का अभाव मिलता है वह इसलिए भी कि कवियों ने शब्दों के कोश स्वीकृत अर्थ को गजभुक्तकपित्थ मानकर लगभग छोड़ सा दिया है। और वे अपनी कविता के प्रत्येक बन्ध या सन्दर्भ मे कुछ ऐसे शब्दो का प्रयोग कर देते हैं, जो कवि के निजी रागावेगो मे रंजित वैयक्तिक अर्थ से सश्लिष्ट रहा करते हैं। इस प्रकार शब्दो के परम्परागत या कोश-स्वीकृत अर्थ के साथ हस्तक्षेप और शब्दो मे वैयक्तिक अर्थ प्रक्षेप करने की प्रवृत्ति के कारण नई कविता के कथ्य और शिल्प की दुर्बोधता और भी बढ गई है। वस्तुत नई कविता मे प्रेषणीयता के उलझाव का एक सशक्त कारण (रूप विधानगत प्रयोग चापल्य और 'शो मैन शिप' के

अलावा) प्रचलित भाषा मे नया अर्थ भरने की चेष्टा या प्रयुक्त शब्द में स्वीकृत अर्थ के बदले अतिरिक्त अर्थ को भरने का प्रयास है। इसे हम युग सम्पृक्ति, सामाजिक अनुबन्ध और स्वीकृत अर्थानुसंग से रहित 'शब्दों का वैयक्तिक प्रयोग' कह सकते हैं। नई कविता पर झुंझलाने वाले लोग इसी बात को बदलकर यह कहते हैं कि नई कविता के कवियो ने 'अर्थवान शब्दों की समस्या' को ठीक से नहीं सुलझाया या उन्हें शब्दो की शक्ति और सार्थकता की सही पकड़ नहीं है। यानि वे कवि-संस्कार के प्रति अचेत और शब्द साधना मे अनिपुण हैं।"[37]

इसके अतिरिक्त, प्रपद्यवादियों की रचना में परम्परा भजन के कारण भी दुरुहता आई। इसके पीछे की प्रेरणा थी—काव्य की पारम्परिक भाषा मे थकान आ जाना, आसंग मे परिवर्तन होना अर्थात काल और परिवेश परिवर्तन के कारण शब्द की परम्परागत शक्ति और क्षमता का चूक जाना। प्रपद्यवाद के प्रवक्ता केसरी कुमार जी के शब्द ध्यातव्य हैं—"चूकि आसग (Association) संगति (Combination), स्वर सस्थान इत्यादि के रूढ़िबद्ध प्रयोग मे कविता के असंख्य शब्द, अलंकार, चित्र घिस-पिट कर पूरे वजन का अर्थ नही दे रहे हैं और उनमे निश्चयात्मकता (Accuracy) का अभाव हो गया है, इसलिए प्रयोगवादी कवि उनका संस्कार कर रहा है, कुछ नए गढ़ रहा है और इस प्रकार अपने शब्दो, अलकारो और चित्रो को निश्चयात्मक रखने की कोशिश कर रहा है। भाषा की थकान दूर करने के लिए, उसमे नई ताजगी भरने के लिए तथा उसे नए आवेगों और आसंगो के उपयुक्त बनाने के लिए वह शब्दो को नई व्यवस्था, स्वरविधान (Cadences) एवं नई शब्द संगति का निर्माण कर रहा है, विशेषणो का स्थानान्तरण तथा शब्द लोपी वाक्य विन्यास (Elliptic construction) प्रस्तुत कर रहा है।"[38]

इस प्रसंग मे अन्तिम बिन्दु के रूप में यह बात कही जा सकती है कि प्रपद्यवादी कवि बाह्य यशैषणा से प्रेरित होकर काव्य रचना नही करता, उसे गोष्ठियो की तालियों की आकांक्षा भी नही है तथा अद्भुत संतोष इस बात का है कि यदि एक प्रतिशत पाठक भी उसकी रचनाएं पढ़ता है, समझने की बात पर आग्रह नही, तो वे अपनी उपादेयता समझ लेंगे। इस वाद के कवियों की एक विशिष्ट विवशता है—"वह अनुभव करता है कि विशाल के फैलाव मे ईमानदारी से वह मानवीय सम्बन्धो की रक्षा नही कर सकता। वह अनुभव करता है कि अपने को दूर तक खींचकर वह जीवित नही रह सकता और इसके साथ ही वह अनुभव करता है कि इसलिए उसे छोड़ देना स्वयं को बहिष्कृत कर लेना है। कविता की परवाह इन्हीं कारणो से आत्म होगी। इसलिए उसने आज एक छोटे समाज को लिया है जो उसके भीतर के पाठक का पर्याय है। आज कविता मे यदि प्रेषण है तो उसी अपने भीतर के पाठक के प्रति क्योंकि बाहर वह कुछ नहीं पा रहा जो उसे प्रेषण की

प्रेरणा दे।"[39]

भाषा के सर्वदा व्यक्तिगत और अनर्गल प्रयोग के आरोप को भी उपर्युक्त भावभूमि में समझना चाहिए और प्रपद्यवादियों के नवम-दशम सूत्रों की व्याख्या समझने की चेष्टा करनी चाहिए। फिर भी प्रपद्यवाद के पक्ष समर्थन में केसरी कुमार जी की प्रस्तुत उक्ति देखी जानी चाहिए—"भाषा के वैयक्तिक प्रयोग की बात सही है। परम्परा की रूढ़ियों से मुक्त होने के अनुष्ठान में भाषा का यही रूप होगा। जब ऐसी प्रवृत्ति युग की सामान्य प्रवृत्ति बन जाती है तब क्लासिकल युग आरम्भ होता है, पर तब भी भाषा के वैयक्तिक स्तर से ही विशेष कवि पहचाना जाता है। वस्तुतः कवि अपने शब्दों का नियामक होता है और शब्द उसके लिए वैसे होते हैं जैसे चित्रकार के लिए कागज और मूर्तिकार के लिए प्रस्तर-खंड फिर आज का युग नये अनुष्ठान का युग है, क्लासिकल नहीं। आज का कवि भाषा को निजी रखना चाहता है, क्योंकि वह पाठकों को अपने भावों की, एक अपरिभाषित रीति से, प्रतिक्रिया देखना चाहता है। वह पाठक को अपने काव्य द्वारा एक ऐसे खास ढंग से प्रभावित करना चाहता है, न कि काव्य को उससे प्रभावित कर जक-थक की स्थिति बनाये रखना चाहता है।"[40]

आ० नलिन जी की कहानियों पर, माध्यम या शैली दृष्टि से, विचार करते हुए यह कहा गया है कि इसके दो रूप—जनता माध्यम और कला माध्यम हैं। प्रपद्यवाद कला माध्यम को स्वीकार करता है तथा बिना किसी संकोच के यह तथ्य निवेदित करता है कि काव्य और कला कभी भी जन सामान्य की वस्तु नहीं रही। यह सदैव अल्प संख्यकों की वस्तु रही है। कोई यदि यह कहता है कि प्राचीन युगों के कलाकारों की रचनाएं, उनके नए प्रयोग सर्व साधारण के लिए सर्वथा बोधगम्य होते थे, भ्रामक है, कदाचित असत्य भी। यदि ऐसा होता तो भवभूति की मार्मिक वेदना 'अनन्तकाल बहुला च पृथिवी' प्रकट नहीं होती। हमें कुछ वर्ष पूर्व घटित अपने छायावाद का इतिहास ज्ञात है, कि वह वाद मात्र इसलिए लांछित नहीं हुआ कि उसके आवेग तत्कालीन हिन्दी समाज समझ नहीं सका, अपितु उन आवेगों के साथ आने वाली अनिवार्य भाषा भंगिमा की अपरिचिति के कारण भी। आज 'निराला' समादृत हैं, पर कितने हैं जो उनकी वाणी को ठीक-ठीक हृदयंगम कर पाते हैं।

सचाई यह है कि प्रत्येक युग और देश में कविता की स्थिति सदा नगण्य रही है। वस्तुतः यह एक प्रकार का अनुत्पादक कार्य है, इस अर्थ में जैसे कल-कारखाने आदि उत्पादक कार्य हैं। इसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध मानव की संस्कृति से है। प्रकारान्तर से यह निजी आवेग और वैयक्तिकता की वस्तु है। अस्तु; अनुभूति और अभिव्यक्ति स्तरों पर यह निजी होगी ही। सामाजिक उत्तरदायित्व का आग्रह काव्य में प्रतिबद्धता लाने की कुचेष्टा और षड्यन्त्र की इच्छा का परिणाम है।

सामाजिक उत्तरदायित्व आवश्यक है, किन्तु इसकी जो ध्वनि है, उसे प्रपद्यवादी ग्रहण नहीं करते। इनकी यह स्पष्ट धारणा है कि मार्क्सवाद, गांधीवाद या किसी भी इतरवाद से पूर्णत. बंधने या भागने से कविता नही बन सकती है। आ० नलिन जी के शब्दो मे कविता को मार्क्स और फ्राइड से भी आगे जाना होगा। अस्तु कविता का मौलिक दायित्व मौलिक दृष्टिकोण के रसात्मक स्थलो की खोज तथा अपने भाव तथा व्यंजना का स्थापत्य उतारना है। प्रपद्यवादी कविता मे व्यक्तित्व के आरोप को भी अस्वीकार करते हैं। सामाजिक उत्तरदायित्व का आग्रह रचना और समीक्षा को किस सीमा तक बाधित करता है, इसके प्रमाण का अध्ययन बड़ा ही रुचिकर होगा। इस प्रकार के आग्रह के कारण टी० एस० एलियट, जेम्स ज्वायस, एजरा पाउण्ड ज्या पाल सार्त्र आदि को ह्रास कालीन पूंजी वाद की विश्रृंखलता, अराजकता और जन विरोधी व्यक्ति निष्ठा का कवि कहा गया। अज्ञेय आदि को इसी कारण 'त्रिशंकु' की अभिधा मिली। कभी पंत जी कम्युनिस्टो के प्रिय कवि थे, पर 'स्वर्ण किरण' और 'स्वर्ण धूलि' के प्रकाशन के साथ ही वे अकवि हो गए और उनके काव्य मे बिड़ला और टाटा का सोना दिखाई पड़ने लगा। यहां तक कि अपने ओज और क्रांतिपूर्ण तेवर के कारण दिनकर जी कम्युनिस्टो के प्रारम्भ मे प्रिय तो बने, किन्तु राजनीतिक आर्थिक प्रतिबद्धता नही रहने के कारण वे द्वन्द्व के कवि घोषित कर दिए गए। निष्कर्षतः काव्य और कला की परख की यह कोई कसौटी नही। प्रपद्यवाद की स्थिति इस रूप मे स्पष्ट है कि यह पाठक और कवि दोनो की स्वतन्त्रता मे विश्वास रखता है।

सर्वान्त मे बुद्धि तत्त्व का नियोजन देखा जाए। प्रश्न है कि क्या बुद्धि का काव्य से विरोध है? यह प्रश्न काव्य की रचना प्रक्रिया से सम्बद्ध है। रचना प्रक्रिया कला की आलोचना के धरातल से साहित्य मे अवतरित हुई। तब साहित्यालोचन के अनेक अनुद्‌घाटित पूर्व आयामो का विश्लेषण होने लगा। रचना की प्रक्रिया अचेतन की प्रक्रिया है, इसलिए यह एक मिश्रित, दुर्बोध तथा कृच्छ्र पद्धति है। धर्मशास्त्र की 'आत्मा' मनोविज्ञान का मन है, जिसकी तीन अवस्थायें हैं—ज्ञान शक्ति, इच्छा शक्ति और कर्म शक्ति। इन्हे क्रमशः भावना, वासना और चेष्टना भी कह सकते है। ज्ञान शक्ति ज्ञानात्मक आधार फलक है, जहां वासनाएं कृति की ओर प्रेरित करती हैं। जिससे वह सबसे अधिक सन्निकट होती है, वह है प्रकृति या सामाजिक परिवेश। यद्यपि हम शाश्वत आनन्द की कामना करते हैं, किन्तु उसका अभाव ही रहता है। मानवीय सत्ता चिन्तनशील होती है और चिन्तनशीलता बुद्धि को जन्म देती है। वैसे भी रचना-प्रक्रिया के तीन स्पष्ट आयाम हैं—अनुभूति, चिन्तन और अभिव्यक्ति। अनुभूति मे रागात्मकता होती है लेकिन वहां भी बुद्धि को छोड़ा नही जाता। शरीर से क्रियाशील मनुष्य प्राणाधार

पर अनुभूति सस्कार एकत्र करता चलता है। स्पदन के क्षण जीने के होते हैं। समस्त रचनाओ मे 'मानस' ही उत्प्रेक्षण का काम करता है। हम मानस के सम्यक् आश्रय से ही लौकिक चिन्तन अनुभव को लोकोत्तर स्तर तक ऊपर ले जा सकते हैं।

यदि इस गंभीर व्याख्या के स्थान पर सरलता की बात करें तो एक सामान्य-सी प्रक्रिया, बुद्धि के पक्ष मे निम्न रूप मे आएगी—

(क) किसी व्यक्ति या वस्तु के सम्पर्क मे आने पर मानव मे चार प्रकार की क्रियाए हो सकती हैं—आलोचना, मनन, अभिमान और अवधारण। इनमे आलोचना इन्द्रियों का व्यापार, मनन मन का, अहकार के कारण अभिमान तथा अवधारण बुद्धि की क्रिया है।

(ख) बुद्धि हमे जीवन को जानने की शक्ति देती है। बिना जीवन को जाने या समझे इस बात का निर्णय नही हो सकता कि उसमे से क्या ग्रहण किया जाए और क्या छोड़ा जाए।

(ग) जीवन एक अनवरत क्रिया है। इस पर सवेदनात्मक प्रभाव पहले और शीघ्र होता है। इस प्रभाव के कारण जीवनानुभव बिम्बों के रूप मे मन पर अंकित होते हैं, किन्तु, *मन पर अंकित होने के पूर्व ही बुद्धि उचित का ग्रहणीकरण और* अनावश्यक का त्याग करती है। वस्तुतः कवि कर्म एक जटिल और श्रमसाध्य कार्य है। इसके द्वारा वह अपने और समाज के प्रति उत्तरदायित्व का पालन करता है। इसकी सफलता उचित के चयन और अनावश्यक के परित्याग पर निर्भर है। बुद्धि इस अर्थ मे परम सहायिका है।

इन्हीं कारणो से प्रपद्यवाद बुद्धि की भूमिका को काव्य-रचना मे एक आवश्यक उपादान के रूप में स्वीकार करता है। बुद्धि की उपयोगिता एक अन्य कारण से भी यह वाद स्वीकार करता है। इसे प्रस्तुत रूप मे देखा जा सकता है।

प्रपद्यवादियो की दृष्टि मे आज के युग मे साधारणीकरण की नही, विशिष्टीकरण (Specialization) की शक्ति कार्य कर रही है। काव्य क्षेत्र मे भी यह विशिष्टीकरण हो रहा है, जिसकी प्राणवाहिका बुद्धि है। वैसे भी, आज के युग मे जब विज्ञान के आधार पर जीवन का नियमन होता है, हम मात्र भावना के धरातल पर जीवित नही रह सकते। विज्ञान का सत्य प्रयोगशाला से उद्भूत होता है, जहां प्रत्यक्ष निष्कर्ष को ही सत्य माना जाता है। आज का कवि भी अपने स्तर पर एक वैज्ञानिक ही है। जीवन और जगत् की व्याख्याएं वैज्ञानिक किंवा बौद्धिक स्तर पर कार्य करती है। नई कविता के गम्भीर अध्येता डॉ० कुमार विमल की स्थापना इसी कारण इस रूप मे सामने आती है—"नई कविता मे चिन्तन को अत्यधिक महत्त्व दिया जा रहा है। आज का कवि भावना और कल्पना से अधिक चिन्तन का विश्वासी है। उसने कविता को सस्वर चिन्तन (thinking aloud)

बना दिया है। इस दृष्टि से 'नकेन के प्रपद्य' आधुनिक हिन्दी कविता में अनन्वय सिद्ध होते हैं। फलस्वरूप, नई कविता में चिन्तन के ही कई आयामों का प्रतिफलन इसके सहानुभूतिशील आलोचक स्वीकार करते हैं, जैसे, ऐतिहासिक चिंतन, समाहारात्मक चिन्तन, व्यक्तित्व चिन्तन, सामाजिक चिन्तन, शोभात्मक चिन्तन, समग्रात्मक चिन्तन, विचारात्मक चिन्तन इत्यादि।"[1]

प्रपद्यवाद पर अतिबौद्धिकता के आरोप में, आलोचकों का पूर्वाग्रह अधिक परिलक्षित होता है। डॉ० नगेन्द्र का कथन है कि कविता मानव-मन का शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करती है—यह एक विश्वसनीय सत्य है और कविता की सार्थकता इसी में है कि वह राग को संवेदनीय बनाये, बौद्धिक तत्त्व को संवेदनीय बनाना शास्त्र का काम नहीं। प्रपद्यवाद के दार्शनिक सूत्रकार का एतद् विषय में स्पष्टीकरण है—"यदि शेष सृष्टि में बुद्धि आती है तो कविता को अधिकार होगा कि वह उससे रागात्मक सम्बन्ध रखे, और यदि 'शेष सृष्टि' का अर्थ बुद्धि को छोड़कर और सबकी सृष्टि है, तो सवाल होगा कि उस शेष के साथ सम्बन्ध कौन जोड़ता है, बची हुई तो केवल बुद्धि ही है। बुद्धि क्या, कविता तो प्रचार को लेकर भी बनी रह सकती है और यदि प्रचार से कविता मरी है तो इसका कारण प्रचार नहीं, कुछ और रहा है। आखिर सूर और तुलसी में भक्तिवाद का प्रचार नहीं था क्या?"[12] डा० नलिन जी ने अपनी रचना-प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए, प्रकारान्तर से इसी बुद्धि तत्त्व को स्वीकार किया है—"यदि रचना बोल सकती है, तो रचयिता को मौन ही रहना चाहिए। मैं अपनी रचनाओं में वह सब कुछ कबूल ही तो करता हूं, जिसे जानने की इच्छा किसी को हो सकती है। और जो नहीं कबूल किया है, वह किसी के काम का नहीं—मेरे लिए उसका जो भी मूल्य हो। मैं प्रेरणा होने पर सोचना पसंद करता हूं, लिखना एकदम नहीं, कविता तक प्रेरणा के क्षणों में नहीं लिखता।"[13] प्रस्तुत उद्धरण का अंश 'कविता तक प्रेरणा के क्षण में नहीं लिखता', ध्यातव्य है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि साहित्य-मात्र की रचना भावों का सहज प्रवाह नहीं, चिन्तन-अनुचिन्तन (thinking and re-collection of emotions) है। इस स्थिति में बौद्धिकता आवश्यक-सी है।

प्रपद्यवाद और अतियथार्थवाद

प्रपद्यवाद पर एक विशिष्ट और गम्भीर आरोप यह लगाया गया कि प्रपद्य द्वादश सूत्री अतियथार्थवाद (Surealism) से प्रभावित है। इस प्रकार सीधा आरोप 'हिन्दी साहित्य कोश' में डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने इन शब्दों में लगाया है—"अतियथार्थवाद का प्रत्यक्ष प्रभाव 'प्रपद्यवाद' पर अवश्य देखा जा सकता है। बिहार के तीन कवियों—नलिन विलोचन, केसरी कुमार तथा नरेश (नकेन)

द्वारा प्रवर्तित इस काव्य-आन्दोलन के बाह्य तथा अन्तर दोनो पर ही अतियथार्थवाद की छाया अत्यन्त स्पष्ट है। प्रपद्यवाद के कवियो ने अपना घोषणापत्र भी प्रकाशित किया। उनकी रचना-पद्धति उस अव्यवस्था को ही प्रधान मानकर चलती है, जो अतियथार्थवाद का प्रधान उपजीव्य थी। प्रारम्भ में कुछ नवयुवक कवियो ने प्रपद्यवाद की धारा मे बहने का प्रयास किया, परन्तु, अन्ततः यह काव्य आन्दोलन अपनी कोई स्थायी परम्परा न स्थापित कर सका और इस प्रकार हिन्दी साहित्य के इतिहास का एक अनावश्यक अध्याय समाप्त हो गया।"[41]

डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने अपने इस परिचयात्मक विश्लेषण मे प्रपद्यवाद पर मुख्यत. निम्न आरोप लगाये हैं—(क) प्रपद्य द्वादश सूत्री अतियथार्थवाद से प्रभावित है तथा इस वाद की रचना-पद्धति अतियथार्थवाद के मान्य सिद्धान्तों पर आधृत है, (ख) कुछ नवयुवको ने प्रपद्यवादी-धारा मे बहने का यत्न किया, (ग) प्रपद्यवाद अपनी कोई स्थायी परम्परा स्थापित नही कर सका, (घ) प्रपद्यवाद हिन्दी-साहित्य के इतिहास का एक अनावश्यक अध्याय था, (च) प्रपद्यवाद के बाह्य तथा अन्तर दोनो पक्षो पर अतियथार्थवाद की छाया अत्यन्त स्पष्ट है। इन आरोपो मे कितना बल है, यह तो अतियथार्थवाद के अनुशीलन करने पर ही स्पष्ट हो सकेगा। अस्तु, प्रथमत' यथार्थवाद का अनुशीलन आवश्यक है।

अतियथार्थवाद की जन्मभूमि फ्रास है और प्रारम्भन काल 19वी शती। प्रणेता हैं चार्ल्स बोदलेयर (सन् 1821-1867 ई०) 20वी शताब्दी मे इस आन्दोलन को बल और गति मिली। इसका घोषणा पत्र प्रकाशित किया गया। आधुनिक फ्रेंच कला और कविता पर इस वाद का अभूतपूर्व प्रभाव है। फ्रास मे उत्पन्न इस वाद ने इगलैण्ड, जर्मनी, अमेरिका, स्पेन आदि देशो की यात्राए की। इगलैण्ड में इसे सर्वाधिक बल प्राप्त हुआ। वहां इसके सबसे बडे समर्थक हर्बर्ड रीड रहे हैं।

अतियथार्थवाद के अनुसार कविता का स्वप्न से अपरिहार्य सम्बन्ध है। इसमे स्वत' चालित लेखन (Automatic writing) का विशेष महत्त्व है। 'मिथ, ड्रीम एण्ड पोइम' शीर्षक निबन्ध मे हर्बर्ड रीड ने कहा है कि 'स्वतः चालित लेखन से हमारा अभिप्राय मन की उस अवस्था से है, जिसमे अभिव्यक्ति तत्काल एव नैसर्गिक रूप से होती है, जहां भाव-चित्र और उसकी शाब्दिक प्रतिकृति मे समय का कोई अन्तर नही रहता।' स्वत. चालित लेखन के आधार पर ही लॉत्रीमान ने कहा था कि 'काव्य-रचना सिद्धान्त के रूप मे होनी चाहिए, अपवाद के रूप मे नही।' अनीश्वरवाद की शिला पर स्थित अतियथार्थवाद अपने जीवन-दर्शन तथा लयात्मक सर्जन मे अव्यवस्था की भावना को ही शत-प्रतिशत प्रश्रय देता आ रहा है। यही कारण है कि अतियथार्थवादी कृतित्व के साथ पाठक या दर्शक का आसानी से साधारणीकरण नही हो पाता। अतियथार्थवाद एक प्रकार से मानव

विचारधारा के क्षेत्र में व्यवस्था के प्रति, क्रमबद्धता के प्रति विद्रोह करता है तथा इनके स्थान पर अव्यवस्था को प्रतिष्ठित करने के लिए आन्दोलन करता है। जो कुछ प्राचीन है, उन्हें नष्ट कर देना ही अतियथार्थवादी आन्दोलन का मुख्य ध्येय रहा है। अतियथार्थवाद कला को अतिबौद्धिक बना देने का विरोध करता है। उसे जीवन का एकान्त काल्पनिक पक्ष ही अधिक प्रिय है। व्यक्तित्व के अन्तर्विरोध का चित्रण करना उनका प्रमुख ध्येय है। इसके अनुसार आधुनिक नैतिकता अपनी प्रकृति मे एकदम खोखली है।

अतियथार्थवाद के इस परिचय से इसकी निम्न विशेषताएं सामने आती हैं—(क) यह वाद कविता का स्वप्न से अपरिहार्य सम्बन्ध मानता है, (ख) इसमे स्वतः चालित लेखन का विशेष महत्त्व है, (ग) यह एक अनीश्वरवादी जीवन-दर्शन है तथा अव्यवस्था को ही शत-प्रतिशत प्रश्रय देता है, (घ) जो कुछ प्राचीन है, उन्हें नष्ट कर देना इसका मुख्य ध्येय रहा है, (च) यह वाद कला को अति-बौद्धिक बना देने का विरोध करता है, (छ) इसे जीवन का एकान्त काल्पनिक पक्ष ही अधिक प्रिय है, (ज) यह आधुनिक नैतिकता को खोखली मानता है, (झ) व्यक्ति के अन्तर्विरोध का चित्रण करता।

अतियथार्थ की इन विशेषताओं के सम्मुख प्रपद्यवाद की द्वादश सूत्री को सामने रखने पर समानता-असमानता के अनेक बिन्दु सामने आते हैं। यथा, समानता के तथ्यों मे स्वच्छन्दता का विशिष्ट आग्रह (वर्स लिब्रे-वर्स लिबेरे), दृक्वाक्यपदीय प्रणाली या स्वतः चालित लेखन, पूर्ववर्ती परिपाटियों, रूढ़ियों तथा व्यवस्थाओं के प्रति अवज्ञा और तिरस्कार का भाव, आधुनिक नैतिकता पर अविश्वास, व्यक्तित्व के अन्तर्विरोध का चित्रण, अव्यवस्था के प्रति आकर्षण आदि प्रमुख हैं। किन्तु, समानता के ये तत्त्व ठीक उसी रूप मे प्रपद्यवादियों को ग्राह्य नही हैं जिस अर्थ और रूप मे इन्हें अतियथार्थवादी ग्रहण करते हैं। एक उदाहरण—प्राचीन तथा रूढ़ियों एवं व्यवस्था के प्रति तिरस्कार और अवमानना का भाव। अतियथार्थवादी जहां इन्हें सम्पूर्ण अवमानना की दृष्टि से ग्रहण करते हैं, वहीं प्रपद्यवादी इसी बाह्य व्यवस्था के प्रति अग्राह्य भाव रखते है। प्रपद्यवादियों को प्राचीन प्रिय है और वे इसे खाद के रूप मे प्रयुक्त करते हैं तथा एक दृष्टि-कोण विशेष से इसे देखते हैं। इस प्रकार समानता के बिन्दु पर भी, असमानता के स्पष्ट आधार इन दोनों वादों के बीच विद्यमान है। मौलिक स्थिति तो यह है कि प्राचीन को पूरी तरह विनष्ट कर देने की आवश्यकता प्रपद्यवाद के समक्ष थी ही नही। इस वाद का जन्म छायावाद की अतिशय भावुकता, प्रगतिवाद की राज-नीतिक प्रतिबद्धता और प्रयोगशीलों के प्रयोग के प्रति शिथिल और उपेक्षा भाव रखने के कारण हुआ। प्राचीन को विनष्ट करने जैसी कोई आवश्यकता इनमे है ही कहां? हा, यह अवश्य है कि प्रपद्यवाद ने प्राचीन का अनुकरण नही किया

तथा उसे नए दृष्टिकोण से देखा। प्रयोगसाध्यता एवं दृष्टिकोण का अनुसंधाता होने की बात यही सिद्ध होती है। नलिन जी के ग्रन्थ 'पहली अजंता', 'दूसरी अजंता', 'नवजातक' तथा 'रामगिरि' इसके उदाहरण हैं।

'स्वच्छन्दता' एक ऐसा बिन्दु है, जिसे दोनों वाद स्वीकार करते हैं, किन्तु दृष्टिकोण की भिन्नता यहा भी है। अतियथार्थवादी अपनी अनीश्वरवादिता एवं अव्यवस्था को शत-प्रतिशत महत्त्व देने के कारण इसे स्वीकार करते हैं, तो प्रपद्यवादी की दृष्टि मे यह साहित्यिक उदारतावाद है। यह साहित्यिक उदारता प्रपद्यवाद मे अपने 'सर्वतत्र स्वतत्र' होने, 'मुक्तकाव्य के स्थान पर स्वच्छन्द काव्य को अपना अभीष्ट मानने' आदि कारणों से है। प्रपद्यवाद की स्वच्छन्दता धुरिहीनता तथा अप्रतिबद्धता आदि कारणों से भी है। अतियथार्थवाद की जीवन-दृष्टि इस प्रसग मे अराजकतावादियो के निकटस्थ है, जिसका परिणाम अतत: अराजक आनन्दवाद (Blasphemy) के रूप में आता है। इस अराजक आनन्दवाद को प्रपद्यवाद कथमपि स्वीकार नही कर सकता। प्रपद्यवाद के प्रणेता और सिद्धान्त प्रेरक आ० नलिन जी की दृष्टि मे मनुष्यता के दो-चार पर्यायो में एक कविता है। उनकी यह भावभूमि इस वाद को अनीश्वरवादी होने से रोकती है। आ० नलिन जी का एक प्रपद्य है 'पहली अजता', जिसकी निम्न पक्तिया द्रष्टव्य है—

> क्षण-भगुर हो गया अजर-अमर
> जैसे बिजली चमके नीले नभ मे
> जो महाशक्ति की है अभिव्यक्ति।

यहा 'जो महाशक्ति की है अभिव्यक्ति' पदबध अनीश्वरवादिता नही, ईश्वरवादिता का सम्पूर्ण द्योतक है।

अब उन बिन्दुओ को देखा जाए, जिनके साथ इन दोनो वादो का स्पष्ट अन्तर है। इन बिन्दुओ का क्रमश अध्ययन स्वाभाविक-सा है—

(क) अतियथार्थवाद जहा कविता का स्वप्न से अपरिहार्य सम्बन्ध मानता है, प्रपद्यवाद का स्वप्न के प्रति ऐसा विशिष्ट आग्रह नही है। इसका कारण यह है कि स्वप्न मे बाह्य ससार से हमारा अपेक्षाकृत सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है, कविता मे ऐसा नही होता। स्वप्न के उपादान तो कल्पना के चित्र होते हैं, और उनका तारतम्य अनियत्रित सम्बन्ध ज्ञान (Free Association) के बल पर चलता है। Free Association के सम्बन्ध में, प्रपद्यवाद का आग्रह कुछ और है। यह वाद इसे पूर्णत. अनियत्रित नही मानता। कारण यह कि, इसमें हमारी अभिलाषाए भी बहुत कुछ योग देती हैं। हमारी चिन्ताए, उपचेतन मे दबी हुई अभिलाषाएं, अतृप्त वासनाए और कभी-कभी ऐसी बातें जिनकी हमारे मन पर गहरी छाप पड़ी हो,

कल्पना के चित्रों के चुनाव मे कारण बनती हैं । इसके अतिरिक्त प्रपद्यवाद अनियंत्रित सम्बन्ध ज्ञान को मुक्त आसंग मानता है, तथा इसके मूल मे आर्थिक-सामाजिक एव व्यक्तिगत कारणो को मूल प्ररणा समझता है। आ० नलिन जी का प्रपद्य 'निशि विहग' इस बात की पुष्टि करता है।

(ख) अतियथार्थवाद जहां कला को अत्यधिक बौद्धिक बना देने का विरोध करता है, वहा प्रपद्यवाद का बौद्धिकता के प्रति प्रबल आग्रह है। प्रपद्यवाद के तीसरे कवि और चिन्तक श्री नरेश की प्रस्तुत स्थापनाएं द्रष्टव्य हैं कि 'काव्य कोई ऐसा कटोरा नही है, जिसमे भावो के आसव भरे जाय' तथा 'अच्छी कविता प्रयत्नपूर्वक लिखी जाती है'।

(ग) अतियथार्थवाद को जीवन का काल्पनिक पक्ष अत्यन्त प्रिय है, किन्तु, प्रपद्यवाद को जीवन के सभी पक्ष।

अतियथार्थवाद के साथ प्रपद्यवाद के इस पार्थक्य को प्रो० अनन्त चौधरी ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—"अतियथार्थवाद की कुछ ऐसी विशेषताएं हैं, जिनसे अतियथार्थवाद का कोई विशेष सम्बन्ध प्रतीत नही होता। जैसे, प्रपद्यवाद भाव और व्यंजना का स्थापत्य है, प्रपद्यवाद दृष्टिकोण का अनुसधान है, प्रपद्यवाद पद्य मे उत्कृष्ट केन्द्रण का अभिलाषी है आदि। यह युगोचित अति उत्कृष्ट काव्यधारा है, जिसका अभी प्रारम्भ ही हुआ है, समाप्ति नही।' (द्रष्टव्य, युग प्रवर्त्तक कवि नलिन जी और उनका प्रपद्यवाद)

अब प्रश्न है कि डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी जी ने प्रपद्यवाद पर अतियथार्थवाद से प्रभावित होने का आरोप क्यो लगाया तथा इस वाद के समाप्त होने की घोषणा क्यों कर दी? हम पहले प्रभावित होने वाले आरोप को ही देखें। इस प्रसग मे मौलिक बात तो यह है कि प्रपद्यवाद अतियथार्थवाद के सिद्धान्तों से तथाकथित रूप मे प्रभावित होने पर भी अपनी मौलिकता रखता है, क्योंकि सिद्धान्ततः यह कहीं भी अनुकरण का पक्षपाती नही है। विशेष बात यह है कि छायावाद मे रहस्यवाद, आनन्दवाद, शाक्तमत, अरविन्द और बौद्धदर्शन की अन्तर्भुक्ति है तो क्या छायावाद को रहस्यवाद-आदि मान लिया जाए? क्या इस अन्तर्भुक्ति के बाद भी इन दोनों मे पार्थक्य नही है? क्या ऐसा ही पार्थक्य-सम्बन्ध प्रपद्यवाद और अतियथार्थवाद के मध्य नही है? वस्तुत, काव्य और कला मे किसी वाद या दर्शन के कतिपय तत्त्वो का आना असामान्य बात नहीं है। मूल बात तो यह है कि किसी रचना या वाद के अध्ययन से प्राप्त पूर्ण और अन्तिम प्रभावान्विति (Total and last effect) क्या है? प्रपद्यवाद मे प्रयोग की साध्यता और द्वादश सूत्र, साधारणीकरण पर विशेष दृष्टिकोण, कविता शब्द से लिखी जाती है की मान्यता तथा काव्य-द्वारा अपने भीतर के पाठक की खोज और उसे सतुष्ट करना तथा मानव के मानवत्व को क्षरित होने से रोकना, आदि कुछ ऐसे तत्त्व हैं जो प्रपद्यवाद को अति-

यथार्थवाद से पूरी तरह अलग करते हैं।

और अन्त मे, डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी जी द्वारा प्रपद्यवाद को हिन्दी साहित्य का एक अनावश्यक अध्याय सिद्ध करने तथा इसकी समाप्ति की घोषणा करने सम्बन्धी विचार पर प्रो० अनन्त चौधरी की टिप्पणी—

"उपर्युक्त उद्धरण के अन्तिम वाक्य मे 'प्रपद्यवाद' को 'हिन्दी साहित्य का एक अनावश्यक अध्याय' कह कर चतुर्वेदी जी ने न केवल अपनी अदूरदर्शिता का प्रदर्शन किया है, प्रत्युत हिन्दी कविता के सम्बन्ध मे अपनी अनभिज्ञता भी प्रमाणित की है। अगर हम मान भी लें कि प्रपद्यवाद अतियथार्थवाद से प्रभावित है तो क्या इतने से ही वह 'हिन्दी साहित्य का अनावश्यक अध्याय' बन जाएगा ? अन्त मे उसकी समाप्ति की घोषणा करते समय उन्होने जैसी राहत की सांप ली है, उससे प्रतीत होता है कि अगर वह समाप्त नही होता तो उनका और उन-जैसो का दम घुट जाता। साहित्य के प्रगति-पथ मे ऐसे ही आलोचक गड्ढे खोदते हैं। सच तो यह है कि प्रपद्यवाद न तो पूर्णतया अतियथार्थवाद है, और न उसकी समाप्ति ही अभी हुई है।"[45]

कुछ नवयुवक कवियो द्वारा इस वाद के अनुकरण का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि इस वाद ने दूसरो के अनुकरण के समान अपना अनकरण भी वर्जित माना है।

प्रपद्यवाद · मूल्यांकन

प्रपद्यवाद के व्यक्तित्व-परीक्षण के आधार पर हमे जो निष्कर्ष प्राप्त होते है, उनका सार-सक्षेप मात्र इतना ही नही है कि अन्य काव्य-वादो के समान ही, यह *हिन्दी का एक काव्यवाद है और अपनी कतिपय मौलिक विशेपताओ के कारण,* इसे हिन्दी साहित्येतिहास मे स्थान प्राप्त हो चुका है। इस सरलीकृत निष्कर्ष के अतिरिक्त मुझे जो बात कहनी है, वह वर्तमान युग की परिस्थितियो, जीवनगत दृष्टिकोण एवं सवेदनात्मक अवस्थाओ को आधार बनाकर कही और समझी जा सकती है। यह बहुत स्पष्ट बात है कि प्राय· भारतेन्दु-काल तक सैद्धान्तिक-वैचारिक पृष्ठिभूमि को आधार बनाकर हिन्दी मे काव्य-आन्दोलन नहीं हुए। भक्तिकाल मे सिद्धान्तो का आग्रह अवश्य रहा है। फिर भी, वहा भावोद्बोधन ही प्राथमिक वस्तु थी। *विभिन्न दृष्टिकोण वाले कवि (कबीर-सूर-तुलसी-जायसी) अपने मतवाद* के प्रति इतने आग्रहशील नही थे कि उनके लिए गोष्ठिया आयोजित करने, एक-दूसरे पर छीटाकशी करने की उन्हे आवश्यकता पड़े। भारतेन्दुवाद के काव्य आन्दोलनो को अपने पृथक् अस्तित्व-प्रदर्शन-हेतु अपने वाद के समर्थन और दूसरे वाद के विरोध मे क्या कुछ नही करना पड़ा। स्थिति यह है कि आज जीवन और

काव्य मे शीघ्रतातिशीघ्र परिवर्तन हो जाते है। बड़ी तीव्र गति है, आज जीवन और साहित्य मे। स्थिरता श्रद्धा से और क्षण-क्षण परिवर्तनशीलता बुद्धिवादिता के कारण आती है। परिवर्तनशीलता की ऐसी स्थिति मे, जहां भाव से अधिक विचार और श्रद्धा से अधिक बुद्धि की प्रधानता है, प्रपद्यवाद की अपनी विशेष स्थिति और महत्ता है।

महत्ता की दृष्टि से प्रथम विषय युगीन परिस्थिति के साथ सम्बन्धित है। प्रपद्यवाद और नई कविता की रचना स्वतन्त्र भारत मे हुई। स्वतन्त्र भारत मे रची गई हिन्दी काव्य की ये पहली रचनाएं होने का गौरव पा सकी। इस गौरव के साथ ही इन्हें नई परिस्थितियो से जूझना पड़ा। एक अद्भुत प्रकार की अनास्था, कुंठा और पलायन की प्रखर प्रवृत्ति का इन्हें सामना करना पड़ा। परिणाम स्वरूप काव्य की प्रेरणा के सन्दर्भ बदल गए। अब जीवन का अनुसंधान सहज नही रहा। जीवन-सत्य का अनुसंधान करने-हेतु उन्हे प्रयोग करने पड़े। प्रसिद्ध दर्शनशास्त्री विलडरस ने अपनी पुस्तक 'लेजर्स ऑफ फिलासफी' मे लिखा है कि एक ओर तो हमारा नैतिक जीवन खतरे में है, दूसरी ओर हमारा बौद्धिक जीवन पुरानी रीतियो और विश्वासो के टूटने के साथ ही तीव्रतर और विस्तृत होता जा रहा है। इसका परिणाम यह हुआ है कि हमारे विचारो और कार्यों की प्रत्येक दिशा प्रयोगात्मक हो गई है। इस चिन्तन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रयोग के पूर्व अनास्था की स्थिति स्वाभाविक है। अनास्था प्राचीन मूल्यो के विघटन का परिणाम है और प्रयोग के रूप मे वह नए मूल्यो के अनुसंधान का अवसर उपस्थित करती है। यही कारण है कि प्रपद्यवाद ने प्रयोग को अपने साध्य-रूप मे स्वीकार किया तथा अज्ञेय जी द्वारा स्वय को प्रयोगशील घोषित किए जाने के कारण 'प्रयोग' की रक्षा के निमित्त प्रपद्यवादियो (नकेनवादियो) को विवशतापूर्वक यह नाम धारण करना पड़ा। प्रयोगवाद-प्रयोगशील-प्रपद्यवाद काव्य आन्दोलन की इस स्पष्ट स्थिति के बाद भी प्रपद्यवाद को आज तक प्रयोगवाद नही माने जाने की स्थिति वर्तमान है। इसके पीछे साहित्य-समीक्षकों की क्या मनोभूमि है, इसे समझाने के लिए डॉ० दिवाकर की प्रस्तुत स्थापना देखी जानी चाहिए—"नकेनवादी कविता का शील निरूपण किया जाए तो एक भी ऐसा ग्राह्य तत्त्व नही मिलेगा जिसके आधार पर नकेनवादी रचनाओं को नई कविता के अन्तर्गत नही रखा जा सके। कहना तो यह उचित होगा कि नकेनवादी को नई कविता से विलगाने के लिए एक भी ठोस और तर्क सगत आधार नही मिलेगा और तार सप्तक के कवियो की रचनाओ को नई कविता के अन्तर्गत परिगणित करने के पीछे भी कोई स्वस्थ विचार नही दिखाई पड़ेगा। यह एक कठोर प्रश्न है कि तार सप्तक के कवियो की कविताओ मे नई कविता के मसीहा को वह कौन-सी अनोखी नवीनता मिलती है जिस कारण इन्हे नई कविता के अन्तर्गत ग्रहण करने में वे प्रसन्नता का अनुभव करते हैं और

नकेन के प्रपद्य मे वैसी खूबी नही पाकर उसे अग्राह्य मानते हैं। कहना होगा कि यह सब साहित्य-क्षेत्र मे फैली हुई राजनैतिकता का अच्छा-खासा नमूना है।"[16] यह तथ्य विचार-विश्लेषण की अपेक्षा रखता है कि प्रपद्यवाद 'नई कविता' है या नही ? किन्तु, डॉ० दिवाकर ने साहित्य-क्षेत्र की जिस राजनीति का उल्लेख किया है, यदि वह सही है तो इस प्रवृत्ति को आलोचना-समीक्षा की कौन-सी विधा कहेंगे—समझ मे नही आता !

प्रपद्यवाद की महत्ता का दूसरा मूल्यवान कारण उसके प्रपद्य द्वादश सूत्र है। काव्य के सम्बन्ध मे इस प्रकार की स्पष्ट दार्शनिक-सैद्धान्तिक स्थिति अपने-आप में महत्त्वपूर्ण है। काव्यशास्त्र मे सदैव ये प्रश्न गूजते रहे हैं—काव्य क्यों ? काव्य कैसे ? किसके लिए ? उसका प्रस्थान बिन्दु क्या है ? उसके साध्य और उपकरण क्या हैं ? अव्यवस्थित रूप मे एकाध प्रश्न के उत्तर दिए जाते रहे है। सभव है, भविष्य में भी दिए जाते रहेंगे। किन्तु, प्रपद्य द्वादश सूत्र-जैसी स्पष्ट व्याख्या अनुपमेय है। इन सूत्रों की महत्ता और स्थिति समझने के लिए नकेन के तीसरे कवि नरेश की प्रस्तुत स्थापना देखी जानी चाहिए—"काव्य एव प्रयोग को नकेन-वाद ने प्रमेयोपपाद्य के रूप मे कभी नही देखा, इसलिए रचनाओ द्वारा उसे सिद्ध करने का मुगालता इन कवियो को कभी नही रहा। विशुद्ध काव्य के लिए जिन द्वादश सूत्रों को प्रतिपादित किया, वे स्थायी है। इनसे बाहर किसी युग का काव्य (पद्य नही, हिन्दी मे, हिन्दी मे ही क्यो, ससार की प्रायः सभी भाषाओं मे काव्य के नाम पर अधिकाश पद्य ही लिखे गए हैं) जी नही सकेगा, अशत या पूर्णत.। इस दृष्टि से नकेनवाद मर नहीं सकेगा। सज्ञा मात्र की अवहेलना, अनदेखी या भुलाना किया जा सकता है।" (स्थापना, अप्रेल 1970 ई० 'क्या नकेनवाद मर गया ?' —श्री नरेश, पृ० स०-2,3,4)

द्वादश सूत्र मे कुछ अत्यन्त ही स्थायी महत्त्व के सिद्धान्त सामने लाए गए हैं। यथा, (क) कवि के सर्वतत्र स्वतत्र होने की घोषणा, (ख) मुक्त आसग, (ग) नई काव्य-रचना-प्रक्रिया, (घ) बुद्धि तत्त्व की प्रधानता, (च) साधारणीकरण की नव्य परिभाषा आदि। ये चीजें इतनी महत्त्वपूर्ण है कि नातिदीर्घ विचार अपेक्षित है।

कलाकार की सर्वतंत्र स्वतत्र स्थिति के सम्बन्ध मे नलिन विलोचन शर्मा की बड़ी सुस्पष्ट दृष्टि थी—"फैसिज्म भारत मे *साम्प्रदायिक संस्थाओ को छोड़कर* किसी का अभिप्रेत नही।"

साम्यवाद स्पृहणीय वस्तु है। *तद्‌गत समस्याओं के बारे मे बहुत गलतफह*[illegible] है। कला को उसकी आर्थिक आधार आवन की सफलता के लिए उसकी [illegible] स्वीकार करने को 'प्रगतिशील' आदि के नारे लगाकर कहा जा रहा [illegible] जानना चाहिए कि साम्यवाद मात्र उपाय है—उपेय नही। निर्दोष [illegible]

है। कलाकार एनार्किस्ट होकर सर्वतंत्र स्वतंत्र होकर फूला नहीं समाएगा। उपाय के साथ वह अपने को आइडेंटिफाई नहीं कर सकता।

उपाय का कुछ निश्चय नहीं। रूस में प्रयुक्त उपाय ध्येय तक पहुंचने के बहुत पहले ही विकृत-सा हो रहा है। कलाकार के लिए तो उपेय आज भी प्राप्त है। उसे उपाय रूप चित्र, साहित्य, मूर्ति-निर्माण आदि की सहायता से मिल सकती है पर उनका जो उपेय है कला, उसका माहचर्य उपाय रूप साम्यवाद के उपेय एनार्की के साथ ही हो सकता है और कला अपने राजनैतिक समान-धर्मा से आगे ही रहकर उसका स्वागत करने के लिए तैयार रहेगी। साम्यवाद अपने को सम्हाले, यही बहुत है।"

नलिन जी की दृष्टि में राजनीति, अर्थनीति, समाजनीति जीवन और कविता के उपकरण मात्र हैं। इन्हें सम्प्रभुता नहीं दी जा सकती। सम्प्रभुता का अधिकारी मात्र मानव और उसका जीवन होता है। इस जीवन को व्यक्त करने वाला कलाकार, इसी कारण, अपेक्षा की जाती है, वह बन्धन-मुक्त हो। यह मुक्ति इसलिए भी आवश्यक है, कि पाशवद्ध व्यक्ति प्रयोग नहीं कर सकता और बिना प्रयोग के जीवन में वैज्ञानिक दृष्टि का विकास नहीं हो सकता, सत्य को पाने के लिए नित्य नूतन अनुसंधान नहीं किए जा सकते। दूसरी बात यह भी कि कवि को अपनी भावना के प्रति उत्तरदायी होना ही चाहिए। कवि की स्थिति बड़ी स्पष्ट है तथा उसके कर्म दूसरों से भिन्न हैं। द्रष्टव्य है, श्री नरेश की प्रस्तुत दृष्टि—"असली कविता का कवि भावों की रिपोर्टिंग नहीं करता, वह अपनी निजी भावना और आवेशों की विक्षिप्तता को इतना महत्त्वपूर्ण नहीं मानता कि वह उन्हें दूसरों पर लादे।···असली कविता, असली आलोचना की भांति, उसी व्यक्ति द्वारा संभव है, जिसकी बुद्धि नितांत स्वतंत्र हो—स्वतन्त्र प्रतिभा (Free Intelligence) वाले व्यक्ति से संभव है यह।"[17]

मुक्त आसंग प्रपद्यवाद का शैली-पक्ष है और इसका आगमन युगीन संश्लिष्टता के कारण है। आ० रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास-ग्रंथ में, इतिहास दर्शन के चित्तवृत्ति वाले सूत्र के द्वारा यही कहना चाहा था कि साहित्य के भाव, व्यंजना एवं शैली पर युगीन परिस्थितियां प्रभाव डालती हैं। प्रपद्यवादियों ने बड़ी ईमानदारीपूर्वक, मुक्त आसंग (Free Association) के द्वारा युग की संश्लिष्टता को अभिव्यक्ति दी है। शब्दों को तोड़-मरोड़ कर लिखने या मुक्त आसंग के द्वारा एक चित्र के बाद शीघ्र ही दूसरी स्थिति या भाव चित्र देना आज की संश्लिष्ट मनोवृत्ति की देन है। इसे हम Free Association के गेस्टाल्ट मनोविज्ञान की देन कह सकते हैं। ध्यातव्य है, डॉ० कुमार विमल की प्रस्तुत स्थापना—"नई कविता में प्रयोग बाहुल्य या विविध और बेमेल स्वरों के कोलाहल का कारण यह भी है कि आज का मनुष्य अपने संकुल संवेदनों और विष

आश्चर्य और दुःख है कि रूढ़ि-पसन्द, पूर्वाग्रही समीक्षको को, प्रपद्यवाद के कवियों के आत्मविश्वास मे अहं का फूत्कार सुनाई पड़ता है। सच तो यह है कि ये सिद्धान्त-वादी आज के कवियों की जीवित अनुभूतियो को सह नही पाते हैं। कहना चाहिए कि इसी आत्मविश्वास का यह सुफल है कि प्रपद्यवाद के कवि आ० नलिन विलोचन शर्मा उपलब्ध हृदय-उद्वेलन को महर्षि बाल्मीकि के हृदय उद्वेलन से, किसी भी दृष्टि मे उन्नीस मानने को तैयार नही—

नीचे गर्जित नगरांबुधि असीम
ऊपर विस्तृत अम्बर अपार .
मैं छत पर लेटा हू,
उफ्, उमस कैसी है !
विवश त्रिशकु-सा,
बस, इक्के, रिक्शे कर्कश
ध्वनि करते सुदूर नीचे
पथ पर, जैसे आवर्त्त पाषाण-रुद्ध
घूर्णित सवेग। पट व्योम का
शत-विवर-जीर्ण दम घोट रहा
फैला मुझ पर ।

मैंने निचोड़ ली कविता
मैं हूं पद्मासनासीन
क्षीर-सागर मे समाधिस्थ
....

एक फिसड्डी चिड़िया
अधकार मे पथ हारी,
जाने दूर घोसले से कितनी
भटकती हुई अंधेरे मे
जैसे कलकत्ते मे खो गई पाच साल की बच्ची।

मैंने देखा नही क्रौंच-वध
सो मैं न तो लिख रहा अनुष्टुप मे
और न रामायणी कथा ही।
पर हृदय उद्वेलित उतना ही
जितना होगा बाल्मीकि का :
दृष्टि मे तटस्थता ज्यादा ।[55]

नलिन जी की यह कविता, और इस प्रकार की उनकी अन्य या नकेनवाद की दूसरी कविताएं इस बात की साक्ष्य हैं कि प्रपद्यवाद के कवियों की काव्य-साधना का मूल केन्द्र-बिन्दु जीवन है। अस्तु, प्रपद्यवाद पर पलायन आदि की बातें बेमानी हैं। सचाई यह है कि वे एकमात्र जीवन को उसके सही रूप में चित्रित करने को इच्छुक हैं। वे मानवता के पुजारी हैं।

प्रपद्यवाद एवं आचार्य नलिन विलोचन शर्मा के प्रति भ्रांतियां एवं उपेक्षा-भाव

हिन्दी समीक्षा-ससार का निरपेक्ष अनुशीलन यह निष्कर्ष देता है कि प्रपद्यवाद और नलिन विलोचन शर्मा के प्रति तटस्थ और ईमानदार भाव नही रहे हैं। विपरीत स्थिति यह है कि इन दोनो के प्रति भ्रातिया और उपेक्षा-भाव रहे हैं। हिन्दी-साहित्य मे इस प्रकार की अधन्यता किसी अन्य साहित्य-साधना या साधक के प्रति नही देखी जा सकती।

प्रथमत, 'नकेन'-सम्बन्धी भ्रातियां लें। नलिन विलोचन शर्मा को नलिनी मोहन सान्याल, केसरी कुमार को केशरी कुमार और नरेश को नरेश मेहता तक लिखा गया। उदाहरणार्थ, 'व्यजना और नवीन कविता' (साहित्याचार्य प० राममूर्ति त्रिपाठी, एम० ए०, साहित्य रत्न) मे उद्धृत परिचय द्रष्टव्य है—"नकेनवाद—यह एक आधुनिकतम वाद है, जिसका नाम नरेश मेहता, केशरी कुमार और नलिनी मोहन के नामों के आद्याक्षर से बना है।" ध्यातव्य है कि ये तीनों नाम गलत हैं।

'आधुनिक हिन्दी कविता की प्रवृत्तिया' पुस्तक मे डॉ० रामेश्वर लाल खण्डेलवाल ने छायावादोत्तर हिन्दी कविता-प्रसग मे लिखा है—"ऐसे प्रयोगवादी कवियों ने अब प्रपद्यवाद या नकेनवाद की स्थापना की है, नलिन विलोचन, केशरी कुमार तथा नरेश मेहता इन कवियों मे अग्रगण्य माने जाते हैं।"

(आधुनिक कविता की प्रवृत्तिया, सम्पादक—मोहन लाल पंत, डॉ० रामेश्वर लाल खण्डेलवाल लिखित 'हिन्दी उत्तरार्द्ध' शीर्षक निबन्ध, सरदार वल्लभ भाई विद्यापीठ, गुजरात, सवत् 2017)

यह कहने की आवश्यकता नही रह जाती है कि यहा तीनो नाम-सहित स्थापना भी गलत है। कारण स्पष्ट है कि यदि कवि-समूह रहता तो इन तीन कवियो की अग्रगण्यता की बात समझ में आती, परयहा तो तीन ही कवि हैं, न कम न अधिक।

नलिन विलोचन शर्मा और प्रपद्यवाद पर आलोचनाएं कम लिखी गई हैं। कुछ सन्दर्भोल्लेख अवश्य मिलते हैं; जैसे हिन्दी-साहित्य कोश—1 मे प्रपद्यवाद पर एक लघु टिप्पणी श्री रामस्वरूप चतुर्वेदी ने पृष्ठ-13 पर लिखी है।

त्रैमासिक पटना के नलिन-स्मृति-अंक (अक्तूबर 1961 ई०) स्व० शिवपूजन सहाय सम्पादित मे डॉ० अनन्त चौधरी ने 'युग प्रवर्तक कवि नलिन जी और उनका प्रपद्यवाद, शीर्षक एक निबन्ध लिखा। डॉ० कुमार विमल ने अपनी पुस्तक 'नई कविता : नई आलोचना और कला' मे एकाधिक स्थलो पर प्रपद्यवाद और नलिन विलोचन शर्मा का प्रसगोल्लेख किया है। 'कवि' के अगस्त 1957 ई० के अक मे 'विशिष्ट कवि . नलिन विलोचन शर्मा' शीर्षक के अन्तर्गत श्री त्रिलोचन शास्त्री ने आलोचनात्मक निबन्ध लिखा। 'निराला और उनके वाद' निबन्ध में (राका, 8-9, मुजफ्फरपुर से प्रकाशित) श्री विष्णु चन्द्र शर्मा द्वारा नलिन विलोचन शर्मा का प्रसगोल्लेख हुआ है। प्रो० केसरी कुमार ने 'नकेन के प्रपद्य' में लिखित 'पद्मपशा' में, 'पाटल' (7 अप्रैल 1953 ई०) मे प्रकाशित 'प्रयोगवाद और उसके आलोचक' तथा अपने अन्य निबन्धों मे नलिन विलोचन शर्मा एव प्रपद्यवाद का अपेक्षया गौरवपूर्ण विवेचन किया है। किन्तु, यहां भी, नलिन विलोचन शर्मा उतने विवेचित नही हो सके। श्री राजीव सक्सेना ने 'युद्धोत्तर काल के प्रमुख कवि . प्रो० नलिन विलोचन शर्मा' शीर्षक से 'भाषा' वसताक-1962 ई० में एक निबन्ध लिखा, 'अवतिका' के काव्यलोचनाक मे 'प्रपद्यवाद की दार्शनिक पृष्ठभूमि' शीर्षक से एक महत्त्वपूर्ण निबन्ध प्रो० केसरी कुमार ने लिखा था।

हिन्दी-साहित्येतिहास ग्रथों मे प्रपद्यवाद एव नलिन विलोचन शर्मा का उल्लेख प्राय नही है। डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने अपने ग्रथ 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' मे प्रपद्यवाद का उल्लेख सात पक्तियो मे पृष्ठ 333 पर किया है। डॉ० त्रिभुवन सिंह ने अपने साहित्येतिहास ग्रथ 'हिन्दी-साहित्य : एक परिचय' मे नलिन विलोचन शर्मा का नामोल्लेख भर किया है। सुखदा पाण्डेय ने अपनी पुस्तक 'साहित्य और इतिहास' के 'छायावाद और प्रयोगवाद', 'प्रयोगवाद और छायावादोत्तर नई कविता' शीर्षक निबन्धो के अन्तर्गत प्रपद्यवाद एव प्रपद्यवादी कवियो का विस्तृत एव तुलनात्मक उल्लेख किया है। शिवलोचन पाण्डेय एवं हृदयेश मिश्र के *सम्मिलित लेखन मे प्रकाशित 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' मे प्रपद्यवाद का* उल्लेख मात्र है। प्रपद्यवाद एवं नलिन विलोचन शर्मा पर अपेक्षाकृत अधिक ईमानदार और नातिदीर्घ अध्ययन प्रस्तुत करने वाले आलोचक समीक्षक है— प्रो० निशान्तकेतु (शब्दान्तर), सुरेन्द्रप्रसाद यादव 'स्निग्ध' (प्रपद्यवाद : नई कविता का परिदृश्य, शोधप्रबन्ध, पटना विश्वविद्यालय), डॉ० देवीशकर अवस्थी (विवेक के रंग), डॉ० रमाशकर तिवारी (प्रयोगवादी काव्यधारा तथोक्त नई कविता) तथा डॉ० दिवाकर (प्रगतिवादोत्तर कविताए तथा मानववाद)। इनके अतिरिक्त बिहार राष्ट्रभाषा परिषद एव हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने नलिन जी के निधनोपरांत स्मृति-रूप मे 'परिषद्-पत्रिका' एव 'साहित्य' के विशेषाक प्रकाशित किए।

परन्तु यह न समझा जाए कि प्रपद्यवाद और नलिन विलोचन शर्मा के शील-व्यक्तित्व का निरीक्षण-परीक्षण यथेष्ट और अपेक्षित मात्रा मे हुआ है। प्रपद्यवाद जो अर्थ, महत्त्व और गरिमा रखता है और उसके प्रेणता और केन्द्रीय पुरुष के रूप मे आ० नलिन विलोचन शर्मा जी की जो धुरिकोर्त्तनीयता है, वह इतने मात्र से स्पष्ट नही होती। आवश्यकता तो यह थी कि उनकी एक-एक विधा पर स्वतन्त्र लेखन और शोध होते। परन्तु सचाई यह है कि प्रकाशित बीसियो साहित्येतिहास ग्रथो मे प्रपद्यवाद और नलिन जी के उल्लेख नही हैं।

आचार्य श्री नलिन विलोचन शर्मा के प्रपद्य

प्रपद्यवाद की दार्शनिक-सैद्धान्तिक व्याख्या से प्राप्त निष्कर्ष के रूप मे यह निवेदन किया जा चुका है कि यह वाद साहित्य की गतिशील धारा मे पूर्व-पश्चिम, दर्शन-मनोविज्ञान और समकालीन जीवन की महत्तम शक्ति लेकर आया, जिसमें शुद्ध काव्य की संचेतना विद्यमान थी। इस वाद के इतिहास-अध्ययन मे यह बात स्पष्ट हो गई है कि प्रयोगवाद अथच प्रपद्यवाद का प्रारंभन सन् 1936-38 ई० मे लिखी नलिन विलोचन शर्मा की कविताओं से होता है और यह भी कि इस वाद के वास्तविक केन्द्र वे ही थे।

आ० नलिन जी ने प्रायः 52 प्रपद्यों की रचना की, जिनमे कुछ पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित हुए। 'नकेन के प्रपद्य' में इनके 19 प्रपद्य सकलित है। इन्हें आधार बनाकर ही हम उनकी काव्य-साधना पर विचार करेंगे। किन्तु, इस तथ्य को स्पष्ट करने-हेतु, कि काव्य के सम्बन्ध मे उनकी उद्‌घोषक टिप्पणिया और सूक्तिया, उनके युगान्तरकारी कवि एव चिंतक होने के यथेष्ट प्रमाण हैं, कविता के मूल्य, दर्शन तथा सिद्धान्त के सम्बन्ध मे यतस्तत. विकीर्ण उनकी कुछ सूक्ष्मेक्षिणी सूक्तियां ध्यातव्य हैं—

(1) 'हम मनुष्य और मनुष्यता मे विश्वास रखते है। इसलिए कविता मे भी हमारी आस्था बनी हुई है। हम मानते हैं कि मनुष्यता के दो-चार पर्यायो मे एक कविता भी है।'

('कविता' अक 1 पृ० 48 : सुधीर कुमार की 'अनहल समीकरण' शीर्षक कविता की टिप्पणी)

(2) 'हर बिन्दु का भूलद्रव (फ्लक्स) मात्राओं की गति है। हर शक्ति की एक दिशा है और इस दिशा की निश्चितता-अनिश्चितता जब मस्तिष्क मे गृहीत होती है, तब कविता सार्थक प्रमाणित होती है।'

(पूर्ववत्, अक-3)

(3) 'चित्रात्मकता वह शिल्प है, जो स्थितियो की भिन्नताओं को मानवगत सवेदना के किसी संदर्भ-विशेष के साथ समादृत कर सके, कवि की सफलता का

प्रमाण है।'

(पूर्ववत्, अक-3, रणधीर सिन्हा की 'दीर्घजीवी' शीर्षक कविता की टिप्पणी)

(4) 'स्थिति की सफलता और भावगत इच्छाओ के बीच की बातें अच्छी लगती है, इसलिए कि भावुकता से हटकर बौद्धिकता की ओर बढ़ने के क्रम मे मध्यस्थता को पार करना विज्ञान-सम्मत है।'

(पूर्ववत्, रामनरेश पाठक की 'मनसा' शीर्षक कविता की टिप्पणी)

(5) 'कलात्मक प्रक्रिया सवेदना की भी प्रक्रिया है और सृष्टि की भी, और दोनो मे द्वैत नही है।'

('अवन्तिका', पटना, जनवरी-1954 ई० एलियट की आलोचना-प्रणाली)

(6) 'बीसवी सदी के मध्याह्न के प्रखर प्रकाश का लाभ उठा लेने वाला कवि पूर्णत रूढिमुक्त हो चुका है, ऐसा उनका विश्वास है, ऐसा उनका दावा है, ऐसी घोषणा करते वह थकता नही। पिंगल और अलकार शास्त्र के कुए का मेढक अब वह नही रहा। विषय की उदातता और गम्भीरता का वह कायल नही, मानसिक दासता की जंजीरें वह तोड़ चुका है।

(छायावाद और प्रगतिवाद . प्रगतिवाद की मान्यताए)

(7) 'प्रत्यक्ष चित्र और दर्शक की अन्तर्दशाओं के पारस्परिक घात-प्रतिघात के ऐसे समय, जब कवि अपने अनुभव को सफाई के साथ, अक्षरबद्ध कर देता है, उसकी कविता सफलता का पर्याय बनती है।'

(कविता, अक-3, अनुरजन प्रसाद सिंह की 'आदमी की जिन्दगी' की टिप्पणी)

(8) 'अनुभव जब आदमी को कही बुरी तरह झकझोर देता हो, तब अनुभूति की तीव्रता मिलती है। हर स्थिति पर पिघलती, पर्यवस्थिति, जब कही ग्रहण करने के लिए रुकती है, तब वहा अधिक साफ होती है।

(पूर्ववत्, ऋषिकेश की 'अगम ग्रथि' कविता की टिप्पणी)

(9) 'कविता को मार्क्स और फ्रायड से भी आगे जाना होगा।'

(पूर्ववत्, श्यामनन्दन सहाय 'सेवक' की कविता 'मुझे पी लेने के बाद, की टिप्पणी)

(10) 'वशी की दूरागत ध्वनि से स्मृति पर छाई धूल झड़ जाती है और धूल गीति बन जाती है।'

(पूर्ववत्, अक्षयकुमार सिंह की कविता 'फुरसत कहा' की टिप्पणी)

(11) 'कवि शास्त्र से दर्शन ले, तो वह उच्छिष्ट भोजी होता है।'

(कविता, अक-3 केसरी कुमार की 'अभ्यास' शीर्षक कविता की टिप्पणी)

(12) 'गोर्की या भ्रास्की चाहे 'आइडेण्टिकल ऑपोजिट्स' को स्वीकार करें, चाहे मानें कि समष्टि व्यष्टि के पीछे चलती है, *या यह कि व्यष्टि समष्टि के*

पीछे, किसी भी अवस्था में इन आदर्शवाद के नाम पर आहूत बौद्धिक स्वतन्त्रता का बलिदान असह्य है।'

(छायावाद और प्रगतिवाद : प्रगतिवाद की मान्यताएं)

(13) 'हमे सभी प्रकार की कविताए प्रिय हैं, बशर्ते वे उच्च कोटि की हो।'

(कविता, अक-1, 'कविता' का प्रकाशन)

(14) 'आज का कवि और उसका प्रत्येक पाठक एक विशेष मनुष्य है। इनमे से कोई साधारणीकृत वर्ग-प्रतिनिधि नही है।'

(पूर्ववत्, अंक 2, वार्तिकी)

(15) 'आज हमारी चेतना पुराणो से निर्धारित नही बल्कि विज्ञान और दर्शन से है। इसलिए प्रबन्ध के विस्तार के साथ कवि को कुछ कहना हो तो उसके लिए पुराण का आख्यान नही, बल्कि जीवन ही आधार बन सकता है।'

(पूर्ववत्, वार्तिकी)

(16) 'कला मे ग्राम्यता चिंतनीय है। कला मे अश्लीलता नासमझ लोगो का भ्रम है।' (दृष्टिकोण : साहित्य मे ग्राम्यता और अश्लीलता)

उपर्युक्त उद्धरण उद्धरण मात्र नही है। वस्तुतः ये आ० नलिन विलोचन शर्मा के काव्य-सिद्धान्त है। अधीत, बोध और आचरण के त्रिफलक मे समीक्षा-कार्य की सार्थकता होती है। इस क्रम में सिद्धान्त-सूत्रो का अध्ययन, पुनः उनका बोध और इन दोनों के आधार पर कवि-कर्म की समीक्षा एक स्वाभाविक प्रक्रिया होगी। बोध अर्थात् आधार-भूमि स्वतः नहीं बना करती। इसके निमित्त कवि-कर्म (रचना) को देखने के पूर्व उसकी अवधारणा (सिद्धान्त) को देखना चाहिए। काव्य और कला से सम्बद्ध उपर्युक्त उद्धरण नलिनजी के दर्शन को समझने के लिए पर्याप्त हैं। कवि-कर्म (रचना) तो अवधारणा (सिद्धान्त) का उत्तर अश होता है। इसी कारण उत्तर अश के उद्घाटन के पूर्व इन्हे देख लेने का उपक्रम किया गया है।

नलिन जी की साहित्य-साधना के विविध क्षेत्रो मे, काव्य-रूप मुख्यतम रहा है। उनके काव्य-रूप के अध्ययन के पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि प्रपद्यवाद दूसरो का अनुकरण नही करता और अपना अनुकरण भी वर्जित मानता है। 'अपना अनुकरण' के दो विशेष अर्थ संभव हैं—(1) प्रपद्यवाद के कवियों का एक-दूसरे का अनुकरण तथा (2) अपने ही व्यक्तित्व का स्वयं-द्वारा अनुकरण। ये दोनों स्थितियां भी वर्जित मानी गई हैं। यही कारण है कि 'नकेन के प्रपद्य' मे सगृहीत प्रपद्यों मे से प्रत्येक की स्थिति एक दूसरे से सर्वथा भिन्न है। कहना चाहिए कि जीवन की विभिन्न भाव-छवियो का अलग-अलग दृष्टिकोण से परि-दर्शन हुआ है। कुछ मे अक्षरो, शब्दो और पक्तियो को इस नयी रीति से सजाया गया है कि अमेरिका के आधुनिक कवि कुमिंग्ज की स्मृति हो आती है। प्रस्तुत है उनके प्रपद्य का क्रमिक अध्ययन—

गीत ·

'नकेन के प्रपद्य' मे नलिन विलोचन शर्मा का यह प्रथम प्रपद्य है। इसमे भाव और व्यजना के स्थापत्य की अन्यतम उपस्थिति है। प्रपद्यकार ने इस प्रपद्य को 'गीत' संज्ञा से वैशिष्ट्य प्रदान किया है। गीत की आधारभूत विशिष्टता, जिसके कारण वह अन्य काव्य विधाओ से भिन्नता प्राप्त करता है, उसका आन्तरिक प्रगतिगत लक्षण तथा अन्तर्मुखी दृष्टिकोण है। गीत मे कवि की निजी भावनाओ का प्रकाशन होता है। परिणामत, इसमे अभिव्यक्त दृष्टि अपेक्षाकृत सीमित, वैयक्तिक और आत्मनिष्ठ होती है। सहज शुद्ध भाव, स्वच्छन्द कल्पना के सहारे कवि इसमे अपने भावो को अभिव्यक्त और अभिप्रेरित करता है।

प्रस्तुत प्रपद्य की मूल भूमि है—'सामने प्रतिपल रहो तुम।' कवि की यह आकाक्षा 'तुम' की प्राप्ति-कामना से उत्प्रेरित है। 'प्राप्ति-कामना' के पीछे का जो दर्शन है, उसे समझना होगा। इस दर्शन-सूत्र को नारद-भक्ति-सूत्र मे बड़ी सूक्ष्म और मनोवैज्ञानिक पद्धति से अभिव्यक्त किया गया है—"अथातो भक्ति जिज्ञासा। सा त्वमस्मिन परम। प्रेम रूपा। अमृत स्वरूपा च। यल्लब्धा पुमान् सिद्धो भवति, तृप्तो भवति। यत् प्राप्य न किंचिद् वाछति, न शोचयति, न द्वेष्टि, न रमते, नोत्साही भवति। यत् ज्ञात्वा मत्तो भवति, स्तब्धो भवति, आत्मारामो भवति। सा न कामयमाना, निरोध रूपत्वात्।" इस सूत्र मे अभिव्यक्त भावो का मूल स्वर है कि भक्ति तीव्रतम अनुराग है। इसे पाकर मनुष्य पूर्ण, अमर और सदा के लिए सतुष्ट हो जाता है और वह परम शात हो जाता है। यह स्पष्ट है कि नलिन जी भक्तकवि नही थे, फिर भी नारद भक्ति-सूत्र की भक्ति विषयक प्रस्तुत चिन्तन प्रणाली को यहा सोद्देश्य उपस्थित किया गया है। 'गीत' प्रपद्य मे प्रेम की जो सकल्पात्मक तीव्रता विद्यमान है, वह भक्ति के समकक्ष-सी है। वैसे भी भक्ति को प्रेम का उदात्त और ऊर्ध्वमुखी रूप माना गया है।

प्रस्तुत कविता मे कवि के समक्ष दो स्थितिया है—प्रथम स्थिति है, उसके सामने प्रतिपल उसका 'तुम' रहे और दूसरी स्थिति है, अगर 'वह न रहे' तो वह (कवि) अपने लिए एक विशिष्ट परिवेश की आकाक्षा करता है। उसका 'तुम' दृश्य-अदृश्य, भौतिक-पारलौकिक, प्रेयसी-प्रभु कुछ भी हो सकता है। प्रथम स्थिति या इच्छा मौलिक है, क्योकि यह सकल्पात्मक है। दूसरी स्थिति विकल्पात्मक होने के कारण, मूल इच्छा की श्रेणी मे नही आ सकती। ये दोनो स्थितिया काव्य मे इस प्रकार हैं—

सकल्प— 'सामने प्रतिपल रहो तुम'
विकल्प— 'दृष्टि जा पाये जहा तक
सामने हो भूमि ऐसी
सिर्फ बालू, धूल

जिसमें दूर-दूर बबूल
शूलमय दो-चार दीखें।"

संकल्प और विकल्प के मध्य की अवस्था भी यहां अपने वैशिष्ट्य में उपस्थित है, जिसमें मनोभाव का अपारम्परिक स्वरूप चित्रित हुआ है। मध्य अवस्था में दो पदबन्ध हैं—'नयन-सी शुष्कता' और 'हृदय जैसी शून्यता।' ये दो पदबन्ध मात्र इस कारण ही महत्त्वपूर्ण नहीं है कि भावोद्बोधन के ये अप्रचलित, अपारम्परिक और नवीन प्रयोग हैं, अपितु इनकी महत्ता इस कारण से है कि इनमें 'संयोग' और वियोग (विप्रलम्भ) की दो वैयक्तिक मनःस्थितियों के निर्वैयक्तिक बिम्बों के द्वारा उत्कृष्ट केन्द्रण प्रत्यक्ष हो उठा है। स्मरणीय है, प्रपद्यवाद में पद्य की यही मौलिकता है। सामान्यतः विप्रलम्भ का भाव-स्फोटन जिन शब्द-रूपों और ऊहात्मकता में होता है, वे यहां दुर्लभ हैं। कवि ने 'निसि दिन बरसत नैन हमारे' —जैसे स्थूल और ऊहात्मक प्रयोग किए बिना ही समस्त भावच्छवियां अभिव्यक्त कर दी हैं। ये भावच्छवियां स्वतः स्फूर्त हैं तथा एक अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण स्थापना करती हैं कि ऊहात्मक प्रतीकों के सहयोग के बिना भी संवेदना के वास्तविक धरातल पर पहुंचा जा सकता है।

पद्य में उत्कृष्ट केन्द्रण होता है, किन्तु केन्द्रण के लिए उस चैत्य शक्ति की आवश्यकता होती है, जो पिण्ड में ब्रह्माण्ड को सहेज सवार दे। हम देख सकते हैं कि विप्रलम्भ की समस्त भाव स्थितियां, अपनी अपेक्षित परिणामावस्था में संश्लिष्ट हो गई है। निर्मित होने वाले दोनों स्वरूपों पर ध्यान दें—परम विरही व्यक्ति के 'नयनों की शुष्कता' और 'हृदय की शून्यता' वह उस 'तुम' के अभाव में अनुभव करता है। यह सहज सम्भव स्थिति है कि हमारा प्राप्य प्राप्त होने पर हम परम सन्तुष्ट और आनन्द लोक में होते हैं (यल्लब्धा पुमान सिद्धो भवति, तृप्तो भवति···) और अप्राप्ति (आधेय की अनुपस्थिति भी) नयनों की तरलता समाप्त कर देती है। आकांक्षित प्राप्य जीवन के शेष सम्बन्धों के साथ सेतु बन जाता है, जिससे सर्वत्र आनन्द बोध होता है। उसका लुप्त होना अनाकर्षण और दुख देता है और तब हृदय का हाहाकार निनादित हो उठता है। मन प्राण से पराजित व्यक्ति जग से सम्बन्ध नहीं बांध पाता, यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। ऐसी अवस्था में एक विकल्पात्मक स्थिति जन्म लेती है—कि उसका 'तुम' रहे न रहे, तो सम्पूर्ण परिवेश शूलमय हो जाए, वायु में उपहास भाव हो, चतुर्दिक उपेक्षा हो रही हो—जैसी स्थिति हो जाए कवि कहना चाहते हैं कि वह 'तुम' उसके जीवन का केन्द्र है। उसके होने में ही कवि का होना निर्भर है (सात्वस्मिन परम प्रेम रूपा, अमृत स्वरूपा च)। लेकिन, अपनी इस बात को वे सघोष कहते भी नहीं। कवि ने अपना कवि-धर्म निभाया कि भावच्छवियां और सावेदनिक संगतियां उन्होंने कुछ थोड़ी सी पंक्तियों में लबालब भर दीं। प्रपद्यवाद पाठकों को स्वतन्त्रता

देता है कि वह अपनी सामर्थ्य और अपेक्षानुसार अर्थ ग्रहण कर लें। अब सोचना यह है कि क्या पाठक इन भावच्छवियों और संवेदनिक संगतियों को आत्मसात कर पाता है? यदि वह उच्चस्तरीय पाठक (High brow reader) है तो उसे कठिनाई नहीं होगी।

एक प्रश्न सम्भव है। क्या भाव स्फोटन के ये दो प्रयोग 'नयन सी शुष्कता' और 'हृदय जैसी शून्यता' पाठक के भावलोक मे अनस्यस्तिजन्य आघात नहीं करते? क्या इस आघात से साधारणीकरण सम्भव है? इन दोनों प्रश्नों का सम्बन्ध मूलतः रसवाद से है। इस प्रसग में यह कहा जाएगा कि कल का रसवाद साधारणीकरण और रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया मे ब्रह्मानंद प्राप्त करती थी, आज यह स्थिति भाविक तादात्मयीकरण में होती है, ज्ञान, चेतना के विस्तार में होती है। 'सामने प्रतिपल रहो तुम' में जो आकर्षण, निष्ठा, समर्पण और एकात्म होने की आकांक्षा है, उसकी अनुपम स्थिति की सम्भावना मात्र से पाठक चिहुक उठता है। यहां झंकृत कर देनेवाला केन्द्रण सावेदनिक फलक का उच्चतम विस्तार करता है। भाव-उपस्थिति सान्निध्य की ऐपणा और स्थापत्य में शूल, बबूल, उच्छास उपेक्षा आदि रूपों में हृदय के क्रन्दन को पर्यवसित किया गया है। निष्कर्षतः यह लगता है कि भाव साण्द्रण की दृष्टि से बहुत कम कविता, इस प्रकार से एकात्म सिद्धि प्राप्त कर पाती है। जैसे कोई मर्माहत व्यक्ति बहुत कुछ बोल नहीं पाता, उसके दो चार अश्रुकण उसकी समस्त विवशताओं और अन्तः बाह्य की उसकी पराजय कथा कह डालते हैं—'गीत' शीर्षक कविता की पंक्तियां भी अपने अति संक्षिप्त रूप में ही सब कुछ कह डालती हैं।

छायालोक :

प्रपद्य संग्रह में यह नलिन जी का दूसरा प्रपद्य है। यहां जीवन की असगत स्थितियों को एक नई सगति में देखा गया है। देखने का माध्यम बुद्धि है। दूसरे शब्दों में कविता जीवन की असगतियों में सगति बैठाने का बौद्धिक अनुष्ठान है।

यहां दो असगत स्थितियां है—'क्या वह लिखती है?" और 'क्या वह कर रहा प्रतीक्षा था?" इन दोनों असगत स्थितियों के बीच का सेतु और दृष्टि का अनुसंधाता कवि है। और कवि की स्थिति है—'मैं यात्री हूं।' स्वयं को यात्री घोषित कर कवि ने अपनी बिखरती स्थिति को एक सूत्र में पिरो दिया है। परिवेश बोध के कारण ये असगत स्थितियां उद्दीप्त हो उठी है। कवि का सकेत है कि जब सामाजिक जीवन श्लथ हो जाता है, उस काल मे भी प्रतीक्षारत हृदय क्षेत्र अतुल संवेदनापूर्वक सक्रिय रहता है। हमारा वर्तमान युगीन आवेष्टन (Environment) विश्वास कम, अनास्था अधिक दे रहा है। विज्ञान सामाजिक सरचना आदि ने अनेक क्षेत्रों में विकास किए। फिर भी एक प्रश्न है—बहुत कुछ प्राप्त

करने पर भी क्या मानव को उसका प्राप्य मिल गया है ? कवि वह द्रष्टा है, जो जीवन की इन असंगतियों को मध्यस्थ व्यक्ति की भांति देख रहा है—

"मैं जगता हूं बुद्धि-निद्र,
मेरी आखें और हृदय हैं जागरूक।"

प्रपद्यवाद को जिन लोगो ने जीवन से पलायन माना है, उन्हे यह कविता निराश करेगी। अपने और अपने युगीन आवेष्टन को यहां तीव्र आधार रूप मे स्वीकार किया गया है जिसका प्रकाशन कविता के प्रतिपाद्य द्वारा होता है। कवि का जगा रहना ही वह प्रतिपाद्य है, जिसके माध्यम द्वारा युग-युग की कवि प्रतिभा और काव्य का औचित्य सिद्ध होता है। कवि का जगना यह सत्य स्थापित करता है कि शेष समाज की अपेक्षा कवि अत्यन्त तीव्र सम्वेदना सम्पन्न होता है। वह 'बुद्धि की निद्रा मे जगता है' उसकी आखें और हृदय जागरूक बने रहते हैं। 'बुद्धि की निद्रा मे जगना' विरोध सूचक लग सकता है, पर ऐसा है नहीं। 'निद्रा' और 'जगना' भिन्न अर्थ मे प्रयुक्त हुए हैं। निद्रा शब्द तन्मयता का द्योतक है। (शरीर विज्ञान की स्थापना के अनुसार इन्द्रिया बाह्य उद्दीपनो से दूर जब शान्ति और विश्राम लेती हैं, बाह्य उद्दीपनों से विमुख होकर विराम की तन्मयता मे जाती हैं, उस स्थिति की सज्ञा निद्रा है।) कवि का सकेत है कि वह बुद्धि की तन्मय अवस्था मे है। इसके कारण ही वह आखो (विवेक) और हृदय (भावना) के स्तर पर जागरूक है।

अपनी इस जागरण अवस्था मे कवि यह पाता है कि दिन का कोलाहल समाप्त हो चुका है। बाह्यता यह अति सामान्य सी प्राप्ति है, पर इससे एक अद्-भुत स्थिति का बोध होता है।

इस लम्बे पथ का आरम्भ जहां तक
वहा एक कमरे मे बिजली जलती थी,
भीतर कोई चलता था, फिर चलता था।

कवि का यह बोध दो स्पष्ट दिशाओं से सम्बन्ध रखता है—प्रथम का सम्बन्ध मानव की नियति से और द्वितीय का सम्बन्ध कवि धर्म से है। बोध की ये दोनो दिशाएं सरस्वती सदृश्य अदृश्य, किन्तु बड़े प्रबल वेग मे प्रवहमान हैं। मानव नियति और उसकी सभ्यता के मूल्यवादी आलोचक यह अनुभव करते हैं कि मानव हृदय की आन्तरिक पवित्रता लुप्त-प्राय हो चुकी है, उसके भीतर का प्रकाश क्षीण पड़ चुका है। दूसरी ओर कवि धर्म भी वादो, नारो और बाह्य सिद्धान्तो के प्रतिस्थापन मे इतना लीन है कि उन्हे मानव हृदय की क्षीण और मद्धिम होती जाती प्रकाश लौ की चिन्ता नही। ऐसी ही परिस्थिति में, मानवता के पोषक कवि की भाव और बुद्धि यात्रा प्रारम्भ होती है। इस यात्रा का प्रारम्भ जिस बिन्दु मे हुआ है, वहां प्रकाश था और भीतर बार-बार कोई चलता था।

प्रकाश भाव (अभाव का विलोम) और सम्भावना पूर्ण स्थिति का प्रतीक है। बार बार किसी का चलना तर्क विवेक और प्राप्ति के लिए होने वाले सक्रिय प्रयत्न और प्रेरणा का द्योतक है। अब 'प्रकाश' और 'चलना' क्रियाओ के आसग मे अपने वर्तमान का अध्ययन अप्राप्ति और निराशा के निष्कर्ष विन्दु पर ले आता है। कहा तो प्रस्थान काल मे सभावनाए और विवेक और कहा प्राप्ति के नाम पर निराशा? इनके कारण उत्पन्न कुण्ठा और सत्रास मे हम क्या छाया की भाति नही हो गए है? 'छाया' जिसका रूपाकार तो होता है, ठोस रूप नही होता है। क्या आज के जैवनिक सम्बन्ध मात्र दीखने की चीजें हैं? फिर, 'क्या वह लिखती है?' 'क्या वह कर रहा प्रतीक्षा था?' खडो मे हृदय की वास्तविक वेदना नही उभर कर, मात्र उसका छायाभास उभर रहा है। सारी असगतियो को जब बुद्धि जोडती है, तब लगता है, हम छायालोक मे चमकने और प्रतिबिम्ब आभासित करने वाले संसार मे नही है तो और क्या है? सामान्य निष्कर्ष यह है कि व्यक्ति जैसा दिखाई पड़ रहा है, वैसा है नही। इसी प्रकार सामाजिक सम्बन्ध भी वास्तविक नहीं, *कृत्रिम है, सत्य नही, छायाभास है और इसी शृखला मे सारा संसार* छायालोक है। ऐसी ही स्थिति मे 'आत्म दीपो भव' के समान कवि बुद्धि की निद्रा मे जागता है। छायालोक मे आख और हृदय ये। जागरूक कवि की जागरण-साधना की सासारिक उपयोगिता इसी कारण स्वतः सिद्ध होती है।

'पहली अजन्ता', 'दूसरी अजन्ता':

आ० नलिन जी की कविताए जीवन के बौद्धिक एव भावमय अनुशीलन तथा प्रत्यक्षीकरण की कविताए हैं। एक ही अनुभव बिन्दु पर रचित उनकी दो कविताए—'पहली अजन्ता' और 'दूसरी अजन्ता' इस दृष्टि से द्रष्टव्य है। ये कविताए एक ही समबिन्दु पर होने के बाद भी कही समानान्तर हो गई है, कही एक-दूसरे की पूरक, और परिणामत. कार्य कारण सम्बन्ध सस्थापन के द्वारा सहयोगिनी भी।

'पहली अजता' मे कवि ने अजन्ता की गुफा के बाहरी तथा भीतरी परिवेश एव वहा की चित्रकारी तथा कला-वैशिष्ट्य और उसके प्रभाव को प्रथम दृष्टि मे ही बांधकर रख दिया है—

> यह स्वप्न नही, है सर्वथा सत्य,
> चुन-चुनकर सुन्दर-सुन्दर क्षण,
> लयपूर्ण नृत्य, अवयव-परिचालन,
> मुद्राए, हाव-भाव सम्मोहन,
> वेदना, हर्ष, गौरव, निरीहता,
> सुन्दरता, कुरूपता—जीवो के,

मन, प्राण, देह, इन सबके
सुंदरतम क्षणबिंदु चित्रार्पित,
शिलीभूत पत्थर पर, रंगों में
तूलिका कला जड़ित'''।

यही है दृक् वाक्य पदीय प्रणाली। प्रस्तुत निर्मित चित्र पर ध्यान दें—जिसमें गद्यात्मकता, ध्वन्यात्मकता, नाटकीयता तथा संगीतात्मकता जैसे अपने चारों आयामों से युक्त, एक क्षण की अनुभूति में सपृक्त हो गई है। अजन्ता की इस प्रभाव अनुभूति में कवि की उत्प्रेक्षाएं अद्भुत हैं, और साहित्य कला के पारम्परिक सिद्धान्तों पर फिर से विचार करने की आवश्यकता अनुभव कराती हैं—

क्षण-भंगुर हो गया अजर-अमर,
जैसे बिजली चमके नीले नभ में
जो महाशक्ति की है अभिव्यक्ति
क्षण भर की
औ'उसे बाँध ले मानव वैज्ञानिक,
जैसे साधक की दृग-कारा में
सर्वेश रूप, प्रिया मूर्ति
विरही की गीली आंखों में।

अजन्ता की गुफाओं की इन मूर्तियों को देखकर कवि हतप्रभ नहीं होते। उनकी चेतना बुद्धि जग पड़ती है। वे सोचने लगते हैं, महाशक्ति का अनन्त सौन्दर्य ही चराचर के सौन्दर्य रूप मे अभिव्यक्त हुआ है (या देवी सर्वभूतेषु कान्ति रूपेण संस्थिता) फिर भी, उस सौन्दर्य मे स्थायीत्व नहीं, क्षण भंगुरता है। इस क्षणान्तता को शाश्वतता देती है, कलाकार की साधना। कलाकार का अपना ही अभ्यन्तर सौन्दर्य के मान को रूपायित करता है। रूपायण की यह क्रिया सापेक्षिक होती है। अर्थात आभ्यन्तर के सौन्दर्य का कवि द्वारा अनुभूत भावों, कल्पित चित्रों एवं दृश्यों की संगति मे यह क्रिया होती है। यथा, कवि अजंता की इन मूर्तियों को देखकर अपने आसंग प्रसंगों के आधार पर जो दो कल्पनाएं करते हैं, वे कवि सापेक्ष हैं। मूर्तियां देखकर दो प्रश्न कवि मन मे उत्पन्न होते हैं—(क) मूर्तियों का रूप सौन्दर्य कैसा है, (ख) द्रष्टा और मूर्ति के मध्य कैसा सम्बन्ध है? उक्त दो कल्पनाएं इन्हीं प्रश्नों के उत्तर हैं। प्रथम का समाधान है—साधक के दृग कारा में महाशक्ति की मूर्ति एवं विरही की आंखों में प्रिया की प्रतिमा का जो सौन्दर्य है तथा दूसरे प्रश्न का उत्तर साधक और महाशक्ति एवं प्रेमी-प्रेमिका का जो सम्बन्ध है। अपनी इस धारणा को वे शब्द देते हैं —

क्या इनका ऐसा ही बंधन है?

'दूसरी अजन्ता' एक महत्त्वपूर्ण तथा व्यंग्य प्रधान कविता है, जिसमें अजन्ता से रात की गाड़ी में इटर के डब्बे की यात्रा का चित्र है। 'प्रथम अजन्ता' की पृष्ठ-भूमि मे रखकर पढने से, इस 'दूसरी अजन्ता' का व्यग अधिक सबल और सुस्पष्ट हो जाता है। 'प्रथम अजन्ता' की चित्रकला 'मानव वैज्ञानिक' की देन है, इस 'दूसरी अजन्ता' के चित्र विधाता-निर्मित हैं। प्रथम निर्जीव होकर भी सजीव और दूसरा सजीव होकर भी निर्जीव। डिब्बे का चित्र स्थिति को समेट कर एक ही प्रकाश-कौंध (Focus) में प्रकट कर देता है—

श्लथ, सुप्त दैत्य-सा
एक उत्तर-पश्चिम भारतीय
जिसकी खर्राटों मे जागरूक नाक
साग्रह, सचेष्ट
रक्षा करती-सी
अपनी प्रौढा हस्तिनी अर्द्धांगिनी को—
व्यस्त केश, स्रस्त वेश,
अजन्ता की मडोदक कला उदाहृता,
इस डब्बे के बीच वाली पटरी पर।

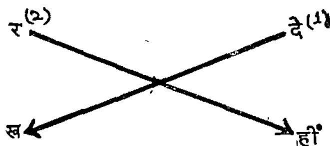
मेरी गड़ती आखें यही
आप्यायित
र दे
ख ही।

फिर अगली ही पक्ति में अभिव्यक्ति प्रयोग है—

जंगम दर्शक, जड दृश्य औ—
रं ध का र

उक्त दो उद्धरणो मे अभिव्यक्ति प्रयोग के दो अपारम्परिक और नवीन प्रयोग हैं: प्रथम है —'र दे / ख ही' और द्वितीय है—'रं ध का र। ये दोनो प्रयोग साभिप्राय हैं तथा इनसे प्रपद्यवादी सूत्र की पुष्टि होती है कि यह वाद दृष्टिकोण का अनुसधाता है। प्रथम प्रयोग र दे/ख ही—'देख रही' का प्रपद्यवादी प्रयोग है तथा दूसरे 'रं ध का र' मे अंधकार का विस्तार परिलक्षित होता है। नलिन जी की प्रस्तुत अभिव्यक्तियों पर सुरेन्द्र प्रसाद यादव द्वारा प्रस्तुत निष्पत्तिया ध्यातव्य हैं—"(क) यहां र दे ख हीं (देख रही) प्रयोग साभिप्राय है। इसमे दो स्थितिया प्रकट होती हैं—प्रथम, देखकर भी न देखने की इच्छा का बोध, द्वितीय कवि को

देखने की अपनी स्थिति का प्रकाशन। कवि ऊपर बर्थ पर लेटे कौणिक दृष्टि से उस हस्तिनी को देख रहे हैं या दोनों की आंखें एक-दूसरे को क्रास बनाकर मिल रही हैं फिर हट रही हैं। यहां तीनों स्थितियों की सम्भावनाएं हैं—



(ख) 'रंध का र' के लिखने के ढंग से ही डब्बे के बाहर फैले अन्धकार का चित्र उपस्थिति हो जाता है। 'अन्धकार' के लिए है (र ध का र)। कवि ने ऐसा लिखकर न सिर्फ अन्धकार के विस्तार का चित्र उपस्थित किया है, वरन् उसकी सान्द्रता का भी चित्र खींच दिया है। एजरा पाउण्ड की एक कविता मात्र एक शब्द की है—'SALE'। उसके एक शब्द के फैलाव से विशाल सागर में तैरते हुए तैराक के अस्तित्व का चित्रोपस्थित हो जाता है—

SALE
SA LE
SA LE
SA LE
SA LE
SA LE[56]

'र दे य हीं,' 'रंध का र' के समान ही 'मोग्से' और 'कलकत्—ताप-अजा—बमेल' जैसे शब्द प्रयोग हैं 'मोग्से'—और उसे तथा 'कलकत्—ताप्—अजा बमेल' कलकत्ता पंजाब मेल के अर्थ-बोध के लिए प्रयुक्त हुए हैं। इन शब्द-प्रयोगों से पाठक एवं समीक्षक एक स्वाभाविक निष्कर्ष प्राप्त करते हैं कि प्रपद्य-वादी शब्दों को तोड़-मरोड़कर प्रस्तुत करते हैं। यह प्रवृत्ति तो है, परन्तु यह चमत्कार निर्माण करने के कारण नहीं, अपितु एक अनिवार्य आवश्यकतावश है। यहां शब्दों को तोड़ा नहीं गया है, तोड़कर समाया गया है। उदाहरणार्थ, 'कलकत्ता पंजाब मेल' के व्यतिक्रम को देखा जा सकता है। इस व्यतिक्रम-द्वारा गाड़ी के चलने की ध्वनि तथा गाड़ी की लम्बाई का बोध स्वतः हो जाता है—

कलकत्—ताप—अंजा—बमेल।

नलिन जी प्रयोग-क्रम में शब्द तोड़ने और गजाने का काम ही नहीं करते, अपितु प्रचलित शब्दों के मेल से नये शब्द-सृजन की सिद्धता भी प्राप्त कर लेते हैं। 'औरमें' (पहली अजता) एक ऐसा ही शब्द है। यह नवनिर्मित शब्द 'और' तथा 'उमें' से विनिर्मित है। यहां समीक्षक पुन वही बात सामने ला सकते हैं—'प्रयोग के लिए प्रयोग'। लेकिन, वास्तविकता यह है कि भावना के चरम क्षण में, मानव संक्षेप-शैली में भाव प्रकट करता है। परिणामत. शब्द मिश्रण या शब्द संकोच जन्म लेता है। यह तो नलिन जी की विशिष्टता है कि गाड़ी की वेगवान गति मे उन्हें स्थिरत्व-बोध होता है। वेगनिशयता में एक विशिष्ट लयता होती है, यह उन्हें दिखाता है और उन्हें दृष्टि के अनुसंधाता के रूप में यह भी देखता है कि गतिशयता मे भी मानव-मन अपनी विशिष्ट आशा-ऐषणा की परितृप्ति की ओर ही रमा रहता है। गति की उस अवस्था विशेष में मानव के तीन आयाम की कल्पना भी सार्थक-सी हो गई है कि उस यात्रा क्रम मे शून्य, स्पदन और अस्तित्व से परिचालित-परिवेशित-स्वरूप हैं। शून्यता है उनके लिए जो अपने कुटुम्ब-जनों से दूर हैं या हो रहे हैं, स्पन्दन है उनके लिए जो मिलन-आशा मे हैं, और इन दोनों की मध्यस्थता मे—आशा और निराशा में मानवीय अस्तित्व विराज रहा है—

सपत्ति ससृति रह गई मात्र
लम्बी पन्द्रह फीट और
चौड़ी साढ़े छँ
इन्टर का डब्बा।

इस प्रकार यह पूरी की पूरी कविता आत्मनिष्ठ वैयक्तिकता के केन्द्र मे रची गई है। किन्तु, यह वैयक्तिकता निर्वैयक्तिकता मे रूपातरित हो गई है। वैयक्तिकता मानव को तत्स्पर्शिनी आध्यात्मिक एव सौन्दर्यबोधिनी शक्ति देती है। यह प्रभाव निष्पत्ति कलाकार एव संवेदना-सम्पन्न व्यक्तियो मे स्वभावतः होती है। फलत इस वैयक्तिकता का निर्वैयक्तिकता मे रूपातरण आवश्यक-सा है। वैयक्तिकता के भाव का उदयन आत्मस्थ होने मे और निर्वैयक्तिकता का आगमन आत्मस्त की अवस्था प्राप्ति मे है। यही कारण है कि सौन्दर्य-भावन के प्रक्रम मे कवि आयाम-त्रय के लोक मे पहुंच गए हैं जिसके परिणाम हैं—'स्थिरता मे गति' और 'चेतना का जड़ता मे उदय' होना। यही आत्मस्त अवस्था या निर्वैयक्तिकता योगियों की साधना की परावस्था है, जहा पहुचकर यह बोध होता है कि अजर-अमर आद्या-शक्ति ही सर्वभूतों मे शक्ति और काति-रूप में विद्यमान रहती हैं। अजन्ता की गुफाओं के मूर्ति-दर्शन और उसके निमित्त यात्रा तत्संबंधी निजी और सामान्य मानवीय यात्रा भी है, सौन्दर्य और आनन्द प्राप्ति हेतु की जाने वाली साधनात्मक

यात्रा भी। यह वही यात्रा है, जिससे काव्य और जीवन के सिद्धान्त बनते हैं। प्रस्तुत कविता मे आत्मस्थ, आत्मस्त, आयामत्रय, और आधाशक्ति आदि बातो की उपस्थिति से यह नही समझना चाहिए कि कवि और उनकी कविता 'दर्शन' क्षेत्र मे प्रविष्ट हो गए हैं। वस्तुतः काव्य के अपने अपने उपकरण होते हैं और दर्शन के अपने। उपकरण भिन्नता के कारण दोनो के व्यक्तित्व पृथक हैं। कवि 'पहली अजन्ता' और 'दूसरी अजन्ता' मे वस्तु और स्थिति को जिस कौणिक भाव मे देखते है, वह काव्य में ही सम्भव है, दर्शन मे नही। कुछ इसी प्रकार के तत्त्व प्रपद्यवाद और उसके कवियो को विशिष्टता देते हैं और जीवन को निजी सगति और संदर्भ मे देखे जाने के उनके सिद्धान्त को पुष्ट करते हैं।

रामगिरि :

'नकेन के प्रपद्य' मे आ० नलिनजी का यह पाचवा प्रपद्य है। इसमे कवि ने दीर्घ साधना के उपरान्त प्राप्तिक्षण मे मानव-मन मे होने वाली सहज अनुभूति का अभूतपूर्व विश्लेषण किया है। साधना-अवधि मे प्राप्ति के लिए जो व्याकुलता रहती है, प्राप्ति-क्षण मे वह नि शेष हो जाती है। वैष्णव भक्ति भावना की एक प्रसिद्ध धारणा के अनुसार वैष्णवभक्त और कवि मोक्ष की कामना नही करते, वे भक्ति की कामना करते हैं। कारण मात्र इतना है कि मोक्ष के उपरान्त वैष्णवो की प्रिय वस्तु अपने इष्ट की भक्ति छूट जाने की निश्चित स्थिति हो जाती है, क्योकि तब साध्य और साधक एकमेक तथा अद्वय स्थिति मे पहुॅच जाते हैं। भक्ति के लिए साध्य और साधक के मध्य द्वैत भाव रहना आवश्यक-सा है। इस कारण वैष्णव मोक्ष चाहते ही नही। प्रस्तुत प्रपद्य मे साध्य प्राप्ति के प्रति इसी प्रकार का एक विरागभाव है। किन्तु, यहां जो कारण निर्दिष्ट है, वह वैष्णव भक्तिभावना से भिन्न है। यहा एक प्रकार की मनोवैज्ञानिक बाधा है। यह मनोवैज्ञानिक बाधा बहुत दुर्बोध नही है। कवि की यह अनुभूति है कि आनन्द साधना के क्षणो मे ही व्याप्त रहता है, फलत. प्राप्ति का क्षण ज्यो-ज्यों निकट आता जाता है, उसका आकर्षण क्रमश. घटता जाता है, और प्राप्ति-क्षण जब प्रत्यक्ष उपस्थित हो जाता है, उस समय तक उसका आकर्षण सम्पूर्णत. समाप्त हो गया रहता है। यही कारण है कि वर्ष भर मिलने की आकाक्षा मे वह व्याकुल रहता है, किन्तु वर्ष के अन्तिम दिवस मे जब मिलन निकट है, उसका हृदय उदासीन हो उठा है। मृग मरीचिका के पीछे पागल हो दौड़ता है, किन्तु सरोवर को देखकर जैसे वितृष्णा-तुष्ट हो बैठ जाता है। सरिता सागर से मिलने की कामना में निर्मर्यादित वेग से दौड़ती है, पर सागरतट के निकट पहुंचते-पहुंचते उसका वेग कम हो जाता है। दीर्घ माहचर्य के कारण साधना ही, श्रेय और प्रेय, दोनो बन जाती है—

नलिन जी प्रयोग-क्रम मे शब्द तोड़ने और मजाने का काम ही नहीं करते, अपितु प्रचलित शब्दों के मेल से नये शब्द-गुजन की सिद्धता भी प्राप्त कर लेते हैं। 'औउमे' (पहली अजन्ता) एक ऐसा ही शब्द है। यह नवनिर्मित शब्द 'और' तथा 'उमे' से विनिर्मित है। यहां समीक्षक पुन वही बात सामने ला सकते हैं—'प्रयोग के लिए प्रयोग'। लेकिन, वास्तविकता यह है कि भावना के चरम क्षण मे, मानव संक्षेप-शैली में भाव प्रकट करता है। परिणामत शब्द मिश्रण या शब्द सकोच जन्म लेता है। यह तो नलिन जी की विशिष्टता है कि गाड़ी की वेगवान गति मे उन्हें स्थिरत्व-बोध होता है। वेगनिशयता मे एक विशिष्ट लयता होती है, यह उन्हें दिखाना है और उन्हें दृष्टि के अनुसधाना के रूप मे यह भी देखना है कि गतिशयता मे भी मानव-मन अपनी विशिष्ट आशा-ऐषणा की परितृप्ति की ओर ही रमा रहता है। गति की उस अवस्था विशेष मे मानव के तीन आयाम की कल्पना भी सार्थक-सी हो गई है कि उस यात्रा क्रम मे शून्य, स्पदन और अस्तित्व से परिचालित-परिवेशित-स्वरूप हैं। शून्यता है उनके लिए जो अपने कुटुम्ब-जनों से दूर हैं या हो रहे हैं, स्पन्दन है उनके लिए जो मिलन-आशा मे हैं, और इन दोनो की मध्यस्थता मे—आशा और निराशा मे मानवीय अस्तित्व विराज रहा है—

> सपत्ति ससृति रह गई मात्र
> लम्बी पन्द्रह फीट और
> चौड़ी साढ़े छै
> इन्टर का डब्बा।

इस प्रकार यह पूरी की पूरी कविता आत्मनिष्ठ वैयक्तिकता के केन्द्र मे रची गई है। किन्तु, यह वैयक्तिकता निर्वैयक्तिकता मे रूपातरित हो गई है। वैयक्तिकता मानव को तलस्पर्शिनी आध्यात्मिक एव सौन्दर्यबोधिनी शक्ति देती है। यह प्रभाव निष्पत्ति कलाकार एव सवेदना-सम्पन्न व्यक्तियो मे स्वभावत: होती है। फलत इस वैयक्तिकता का निर्वैयक्तिकता मे रूपातरण आवश्यक-सा है। वैयक्तिकता के भाव का उदयन आत्मस्थ होने मे और निर्वैयक्तिकता का आगमन आत्मस्त की अवस्था प्राप्ति मे है। यही कारण है कि सौन्दर्य-भावन के प्रक्रम मे कवि आयाम-त्रय के लोक मे पहुच गए हैं जिसके परिणाम हैं—'स्थिरता मे गति' और 'चेतना का जड़ता मे उदय' होना। यही आत्मस्त अवस्था या निर्वैयक्तिकता योगियो की साधना की परावस्था है, जहा पहुचकर यह बोध होता है कि अजर-अमर आद्या-शक्ति ही सर्वभूतो मे शक्ति और कान्ति-रूप मे विद्यमान रहती हैं। अजन्ता की गुफाओ के मूर्ति-दर्शन और उसके निमित्त यात्रा तत्संबंधी निजी और सामान्य मानवीय यात्रा भी है, सौन्दर्य और आनन्द प्राप्ति हेतु की जाने वाली साधनात्मक

यात्रा भी। यह वही यात्रा है, जिससे काव्य और जीवन के सिद्धान्त बनते हैं। प्रस्तुत कविता में आत्मस्थ, आत्मस्त, आधारमय, और आधारशक्ति आदि बातों की उपस्थिति से यह नहीं समझना चाहिए कि कवि और उनकी कविता 'दर्शन' क्षेत्र में प्रविष्ट हो गए हैं। वस्तुतः काव्य के अपने अपने उपकरण होते हैं और दर्शन के अपने। उपकरण भिन्नता के कारण दोनों के व्यक्तित्व पृथक हैं। कवि 'पहली अजन्ता' और 'दूसरी अजन्ता' में वस्तु और स्थिति को जिस कौणिक भाव में देखते हैं, वह काव्य में ही सम्भव है, दर्शन में नहीं। कुछ इसी प्रकार के तत्त्व प्रपद्यवाद और उसके कवियों को विशिष्टता देते हैं और जीवन को निजी संगति और संदर्भ में देखे जाने के उनके सिद्धान्त को पुष्ट करते हैं।

रामगिरि :

'नकेन के प्रपद्य' में आ० नलिनजी का यह पांचवा प्रपद्य है। इसमें कवि ने दीर्घ साधना के उपरान्त प्राप्तिक्षण में मानव-मन में होने वाली सहज अनुभूति का अभूतपूर्व विश्लेषण किया है। साधना-अवधि में प्राप्ति के लिए जो व्याकुलता रहती है, प्राप्ति-क्षण में वह निःशेष हो जाती है। वैष्णव भक्ति भावना की एक प्रसिद्ध धारणा के अनुसार वैष्णवभक्त और कवि मोक्ष की कामना नहीं करते, वे भक्ति की कामना करते हैं। कारण मात्र इतना है कि मोक्ष के उपरान्त वैष्णवों की प्रिय वस्तु अपने इष्ट की भक्ति छूट जाने की निश्चित स्थिति हो जाती है, क्योंकि तब साध्य और साधक एकमेक तथा अद्वय स्थिति में पहुंच जाते हैं। भक्ति के लिए साध्य और साधक के मध्य द्वैत भाव रहना आवश्यक-सा है। इस कारण वैष्णव मोक्ष चाहते ही नहीं। प्रस्तुत प्रपद्य में साध्य प्राप्ति के प्रति इसी प्रकार का एक विरागभाव है। किन्तु, यहां जो कारण निर्दिष्ट है, वह वैष्णव भक्तिभावना से भिन्न है। यहा एक प्रकार की मनोवैज्ञानिक बाधा है। यह मनोवैज्ञानिक बाधा बहुत दुर्बोध नहीं है। कवि की यह अनुभूति है कि आनन्द साधना के क्षणों में ही व्याप्त रहता है, फलतः प्राप्ति का क्षण ज्यों-ज्यों निकट आता जाता है, उसका आकर्षण क्रमशः घटता जाता है, और प्राप्ति-क्षण जब प्रत्यक्ष उपस्थित हो जाता है, उस समय तक उसका आकर्षण सम्पूर्णतः समाप्त हो गया रहता है। यही कारण है कि वर्ष भर मिलने की आकांक्षा से वह व्याकुल रहता है, किन्तु वर्ष के अन्तिम दिवस में जब मिलन निकट है, उसका हृदय उदासीन हो उठा है। मृग मरीचिका के पीछे पागल हो दौड़ता है, किन्तु सरोवर को देखकर जैसे वितृष्णा-तुष्ट हो बैठ जाता है। सरिता सागर से मिलने की कामना में निर्मर्यादित वेग से दौड़ती है, पर सागरतट के निकट पहुंचते-पहुंचते उसका वेग कम हो जाता है। दीर्घ साहचर्य के कारण साधना ही, श्रेय और प्रेय, दोनों बन जाती है—

प्रथम दिवस आषाढ़ का,
इन्द्रधनुषित स्निग्धमेघ,
यह विरह असह्य आरंभ में,
आज नवीकृत प्रकृति में, मन में :
उनसे वंचित होना दुष्कर लगता।

कविता का केन्द्रीय विषय निम्न है—

यह भी तो अविश्वस्य
कि साधना सत्य
व्यर्थ प्राप्ति।

प्रपद्य का रचना पृष्ठाधार कल्पना-प्रसूत नहीं, पारम्परिक और मिथकीय है। प्रपद्यवादी जीवन और योग को तो स्वीकारते हैं, किन्तु कच्चे माल की भांति यह बहुश्रुत इतिहास-प्रसंग है कि कालिदास का यक्ष दण्डस्वरूप प्राप्त तपस्या के अन्तिम दिनों में प्रिया से मिलन की प्राप्ति-आशा में खिल उठता है। कालिदासीय दृष्टि से भिन्न, नलिन जी साधनारत यक्ष की मानसिकता को एक विशिष्ट कोण से देखते हैं। इतिहास उनके लिए खाद बन जाता है। वे जीवन का नूतन अनुसंधान करते हैं कि साधना ही श्रेय है। यह नूतन अनुसंधान प्रस्तुत प्रपद्य को एक नावीन्य और सर्वथा नूतन अभिधान देता है। इसे स्पष्ट करने के लिए, इसी प्रसंग पर रचित नागार्जुन की प्रसिद्ध कविता—

कालिदास सच-सच बतलाना
रोया यक्ष कि तुम रोये थे

को देखा जा सकता है। नागार्जुन जहां कथ्य-प्रसंग को काव्यरचना की प्रेरणा भूमि से जोड़कर वस्तु की विषयगता को कलाकार की भावगता से जोड़ देते हैं, नलिन जी वस्तु की विषयगता और कलाकार (रचनाकार) की भावगता को पृथक् नहीं मानते हुए, विषय को विषय की मानसिकता में ही जांचते हैं। एक अन्य प्रसंग कुमार सम्भव से तुलनीय है। पार्वती अपनी साधना के उपरान्त शिव को पाकर 'क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते' की भावभूमि में प्रविष्ट हो जाती हैं। वहां भी साधना को महाकवि कालिदास प्रमुखता देते हैं। साथ ही, आनुषांगिक रूप से, फल प्राप्ति से उत्पन्न आनन्द भी स्वतः मगुंफित होकर प्रकट हो जाता है। सामान्य स्थिति तो 'फलेन परिचीयते' से मापने की एक स्वाभाविक प्रक्रिया रही है। 'साधना ही सत्य है' की घोषणा नलिन जी की अपनी मौलिक और एकान्तिक विशेषता है।

वसंत गीत :

व्यग्य एक प्रकार से रेडियो एक्टिविटी की शक्ति रखता है और यही कारण है कि जीवन सत्य की मार्मिकता का उद्घाटन जितने पैनेपन के साथ इस विधा द्वारा किया जा सकता है, किसी अन्य विधा-द्वारा नही ।

'वसंत गीत' प्रपद्य-संग्रह मे, नलिन जी का छठा प्रपद्य है, जिसमें उन्होने 'दूसरी अजना' के समान ही व्यग्य का सर्जन किया है । व्यंग्य-प्रधान इस प्रपद्य मे कवि ने यह स्पष्ट किया है कि परम्परा से वर्णित होने वाले ऋतु-सौन्दर्य के दृश्य अब पुस्तको मे ही देखे जा सकते है, आधुनिक सभ्य नगरो में नही—

पीतल, पत्थर के पुण्य-पण्य,
मे मूक रहा : 'आया वसत—
ओपधि-निर्माता अग्रगण्य—
द्राक्षासव ।' विज्ञापन उदन्त ।'''

व्यंग्य-सृजन के लिए यह प्राय: आवश्यक है कि कोई ऐसी समस्या, कोई ऐसा विषय हमारे सम्मुख विद्यमान रहे, जो हमे प्रभावित तो बड़े गहरे रूप मे कर रहा हो, किन्तु हमारे पास उसका कोई मुखर और सार्थक समाधान न हो । वर्तमान मे, प्रकृति मे तीव्रगति से होता जा रहा असंतुलन और इससे उत्पन्न परिवर्तन मानव के समक्ष ऐसी चुनौती है, कि हम देखते और अनुभव करते रहने के बाद भी, उसे असमाधेय प्रश्न की भांति सह लेने को विवश हैं । यह विवशता व्यग्य-विवेचन के रूप मे अभिव्यक्त होती है ।

वसंत का सौन्दर्य सर्वप्रिय है । पर अब यह आता ही नही । प्रकृति का स्वाभाविक रूप आज के जनसंकुल जीवन मे दुर्लभ है । विज्ञान ने प्रकृति के नैसर्गिक रूप को बाधित किया है । कृत्रिमता, मानसिक तनाव और संत्रास इसी के परिणाम हैं । यही पृष्ठभूमि, नैसर्गिकता के क्षरण की स्थिति, प्रस्तुत पंक्तियो मे वर्णित है—

राजमार्ग पर लाउड-स्पीकर,
कर रहे विकृत संगीत-स्फार
टेढ़े शीशे का मराकार !
कुक्कुट कूक उठा तारस्वर ।

स्पष्ट है कि यहां प्रस्तुत के द्वारा अप्रस्तुत की ओर संकेत है । अप्रस्तुत योजना काव्य की प्रिय पद्धति रही है । यहां इस प्रक्रिया द्वारा क्षण-क्षण रिक्त होता जाता हुआ, नैसर्गिक जीवन व्यक्त हुआ है । कवि की कामना यह स्पष्ट करने की है कि वसंत ऋतु मे जहां कोयल की सुमधुर संगीत-ध्वनि सुनाई पड़नी चाहिए थी, वहीं लाउड-स्पीकर के विकृत संगीत-स्फार सुनने को हम विवश है । कोयल की कूक

के स्थान पर लाउड-स्पीकर का मशीन-स्फार तारस्वर का कुक्कुट की तरह कूकना खंडित होती जाती मानवता का निदर्शन है। 'अब दादुर वक्ता भयो कोयल साधे मौन' की लोकप्रचलित कहावत को ध्यान में रखें तो नैसर्गिकता के क्षरण और कृत्रिमता के आगमन की बात स्वत स्पष्ट हो जाती है। थोड़ा अन्तर अवश्य है। इस कहावत मे दादुर और कोयल दोनों उपस्थित हैं, जबकि कवि वर्तमान युग-सत्य को इस रूप मे प्रकट करते हैं कि विज्ञान और सभ्यता के इस दौर में कोयल (नैसर्गिकता) लुप्त हो गया है। 'वसन्तगीत' का गायन आज प्रत्यक्ष जीवन में संभव ही नही। अब वसन्त के दर्शन चित्र, काव्य आदि मे ही संभव हैं। दूसरे शब्दों मे, नैसर्गिकता अब जीवन की वस्तु नही रही, कल्पना की वस्तु हो गई है। नैसर्गिकता के माधुर्य के स्थान पर, कृत्रिमता की कर्कशता, अब हमारी वास्तविकता है।

प्रकृति के नैसर्गिक सौन्दर्य के अभाव का विषय प्रस्तुत करके कवि युग-जीवन की बड़ी गम्भीर समस्या को उठाते हैं। वे बड़े आग्रह-पूर्वक यह सत्य सामने लाते हैं कि प्रकृति जीवन की सहजता का पर्याय है जो हमे अनेक वैयक्तिक तथा सामाजिक तनावों से मुक्ति देती है। प्रकृति से दूरी, स्वभावत सहजता के विनाश को आमंत्रण है। यह एक प्रकार की आत्म-हत्या है। आत्म-हत्या से शरीरान्त सामान्य बात है। स्वबोध हीनता आत्म हत्या का ही अपेक्षाकृत सूक्ष्म और विरल रूप है। आत्महत्या का यह प्रकार एक विशिष्ट प्रक्रिया की देन है। यह प्रक्रिया उस क्षण प्रारम्भ हो जाती है, जब हम अपने और अपने परिवेश से दूर, अपरिभाषेय स्थिति मे पहुँच जाते हैं। तब वैसी स्थिति मे सरसता और स्वाभाविकता समाप्त हो जाती है, और जीवन भौतिक तथा बाह्य बुनावट में फंस जाता है।

बिब्बो का बिब्बोक :

यह नलिन जी के प्रयोक्ता व्यक्तित्व की ही सामर्थ्य है कि उन्होंने 'बिब्बो के बिब्बोक'—जैसी कविता लिखी। किसी अलंकारशास्त्रीय विषय पर इस प्रकार की कविता लिखा जाना, हिन्दी काव्य-साहित्य मे, निश्चित रूपेण एक विशिष्ट प्रयोग है।

'बिब्बोक' स्वभावज अलंकार का एक भेद-विशेष है। भरत के अनुसार नायिका का प्रेम प्राप्त करने के बाद गर्व और अभिमानवश अनादर तथा उपेक्षा प्रदर्शित करना, बिब्बोक अलंकार है। (नाट्यशास्त्र : 24 : 21)। धनंजय ने संक्षेप मे इसी भाव को स्पष्ट किया है—'गर्वाभिमानादिष्टेऽपि······अनादर क्रियः (दशरूपक, 2 . 41)। व्यापक रूप से मन मे प्रिय या इष्ट वस्तु के प्रति और आकर्षण का पोषण करते हुए भी नायिका द्वारा यौवन, धन तथा कुल के गर्व

अथवा प्रिय के अपराध के कारण उसका केवल वाणी के द्वारा उपेक्षा व्यक्त करना।[57]

यह प्रपद्य मुख्य रूप से वक्रोक्ति और 'विट' प्रधान है, जिसमे युग, समाज और जीवन की अनेकानेक स्थितियों के नए चित्र हैं। स्पष्ट है कि वक्रोक्ति एवं विट-प्रयोग के कारण स्वभावत: दो स्थितियां उत्पन्न हो गई हैं। प्रथम स्थिति का सम्बन्ध बिब्बो से और दूसरे का कवि से है। बिब्बो अपने इष्ट (और वह कवि है) के प्रति आकर्षण-भाव रखती है—

बिब्बो ने कहा एक दिन,
'मुझे चाहिए गगन-सुमन, सुन लो।'

और पुन: बिब्बो ने कहा, जिसमें अपने रूप-सौन्दर्य के गर्व का पोषण है—

बिब्बो बोली, 'मेरे काले कुंतल
आकाश-रूप, फूल, फूल हैं, क्यों,
कवि, है न ?' उसने फुला लिया गाल
वाग्बाण उसके होते हो हैं पुष्कल

कवि का विटत्व 'तंत्र काम कला कोविद:' (भानुदत्त र० म०, पृ० 186), उसकी उक्ति-वक्रता को ग्रहण करता है, परन्तु परम साहचर्य की उस अवस्था मे भी, उसे द्वन्द्व बना रहता है। बिब्बो का बिब्बोक अनवद्य है, कवि निद्रा-हीन है, और छाती पर आन्द्रेजीद की पुस्तक रखे पड़ा रहता है—

उनिद्रा : भीगती रात : गद्य-पद्य
नीली-पीली गोलियां नींद की :
बिब्बोक बिब्बो का अनवद्य :
छाती पर पुस्तक आन्द्रेजीद की

प्रस्तुत कविता के दो ध्रुवांतों पर विचार अपेक्षित-सा है। एक छोर पर बिब्बो का बिब्बोक है, जिसमें शृंगार का एक स्वस्थ रूप दिखाई देता है; दूसरी ओर उनिद्र कवि है, जो आन्द्रेजीद की पुस्तक छाती पर रखे लेटे हुए हैं। स्पष्टत:, एक ओर प्रेम की तरलता और सरसता तो दूसरी ओर अतिशय बौद्धिकता है। कवि न तो बिब्बो के प्रेम और कोमल भाव का त्याग कर पाते हैं, न चिंतन और बौद्धिकता का। वैसे, छाती पर विराज रही पुस्तक यह संकेत अवश्य करती है कि कवि दूसरे पक्ष के साथ, स्वयं को अधिक झुका हुआ पाते हैं। यह स्थिति एक साथ प्रपद्यवादी दर्शन और युग-वैशिष्ट्य के कारण है। आज के जीवन का यह निष्कर्ष है कि, वीर और शृंगार के महिमान्वित जीवन के बाद सामान्य जन और जीवन की जो सार्थकता की अनुभूति दे सके, वही आज का वास्तविक नेता और वास्तविक रचनाकार है।

प्रसंग-दृष्टि मे, यह ध्यातव्य है कि नलिन जी के प्रपद्य में वीररस का सर्वथा अभाव है। शृंगार रस है, किन्तु उसका उत्तेजक और मासल रूप नही है, न ही इसके द्वारा अध्यात्म, रहस्यात्मक अनुभूति और दर्शन-आदि की बातें कही गई हैं। 'शृंगार' के यहा दो छोर उपलब्ध होते है, प्रथम विशुद्ध मनोवैज्ञानिक चित्रण और द्वितीय, तटस्थ दर्शन (वर्णन और विश्लेषण नही)। अपवाद-रूप मे, बिब्बो का बिब्बोक है, जिसमे शृगार का शास्त्रीय और लक्षण ग्रथो पर आधारित वर्णन है। 'गीत' कविता मे प्रेम है, किन्तु इसमे न भक्ति है, न काम (यौन-भाव) और न रहस्यमयता। अपितु, शुद्धत: और पूर्णत. इसमे एक व्यक्ति की आतरिक भावनाओ का द्योतन है। समासत, बिब्बो के बिब्बोक मे प्रेम का अतिकथन नही तो नही। हा, इसमें वीर और शृगार के आसंग से मुक्त होकर सामान्यजन और जीवन की अनुभूतियो की ओर सकेत करने वाला मितकथन है। यह बात प्रपद्यवादी रचना प्रकिया मुक्त आसग के द्वारा स्पष्ट होती है। इसके सन्दर्भ मे यह कहा जा सकता है कि आज का मानव जीवन के दो-राहे पर आ खडा हुआ है, जिसमे एक ओर तो प्रेम की सहज सरलता उसे आकर्षित करती है, दूसरी ओर वह जीवनगत समस्याओं से बोझिल होकर शास्त्र और चिन्तन का आश्रय लेकर मार्ग ढूढ़ने को व्यग्र है। इस दो-राहे पर आकर वह हतप्रभ है, उनिद्र है और ऐसी स्थिति मे नीद की नीली-पीली गोलियो की आवश्यकता उसे पड़ रही है।

प्रत्यूष :

'नकेन के प्रपद्य' सग्रह का यह आठवा प्रपद्य है। 'वसत गीत' के समान ही, इसमे कवि प्रकृति मे, मानवजन्य परिवर्तन से उत्पन्न शुष्कता का वर्णन करते है। इस प्रकार यह प्रपद्य 'वसत गीत' का पूरक है, और उसी का भाव-प्रसार करता है। प्रपद्यवाद के सिद्धान्त-पक्ष के विश्लेषण-क्रम मे यह देखा जा चुका है कि अनेक निश्चित कारणो से मानव-मन अब उसी सरलता से जीवन के साथ बध नही पाता, जितना सहज सम्बन्ध उसका आज से सौ वर्ष पूर्व तक हुआ करता था। कारण है, प्रकृति के सहज रूप मे विकृति और परिवर्तन होना। ऋतुचक्र प्रकृति का सुन्दरतम रूपविधान है, किन्तु परिवेश की शुष्कता के कारण यह अपनी स्वभाविक सहजता मे हमे मोह नहीं पाता। 'प्रत्यूष' की भी ऐसी ही स्थिति है। यही कारण है कि प्रत्यूष की नवीनता मे कवि के लिए कोई आकर्षण-निमन्त्रण नही, उन्हे यह मनहूस लगता है। कारण है, इसकी उपसापेक्षता (ऑब्जेक्टिव कोरेलिटी), जो कवि के भाविक-मानसिक परिदृश्य से प्रकट होता है—

प्रत्यूष की नीली, धब्बो-भरी शाति,
क्षितिज की गंजी चाद,

गाढ़ा हरा रंग,
पथल कोयले के धूवर्त्त,
रव डरा हुआ चू-कू काय
चिड़ियों का, बैलगाड़ियों
के चक्कों का रौंदना
कोलतार की कोमल सड़क को,
बैलों की क्षुद्र-घंटिकाओं की
क्षुद्रतर टुन-घुन
रिक्शों की वर्ण-संकर भोंपू।

'क्षितिज की गंजी चाँद' और 'बैलगाड़ियों के चक्कों का रौंदना कोलतार की कोमल सड़क को' कवि के अन्तस् में उमड़ते-घुमड़ते वितृष्णा के बादलों के उद्घाटन को स्पष्ट करने वाले प्रयोग हैं। कवि की इस वितृष्णा का कारण है, प्रकृति के सहज-कोमल रूप में परिवर्तन होना। प्रत्यूष में शांति तो है, पर वह शांति पत्थर कोयले धुएं के धब्बों से भरी हुई है। इस काल में जब मधुर खग-ध्वनि होनी चाहिए, रिक्शों को वर्ण-संकर भोंपू एवं चिड़ियों के कर्कश स्वर चूँ-कूँ काय सुनाई पड़ते हैं।

यह विचारणीय है कि 'वसंत गीत' एवं 'प्रत्यूष'—जैसी कविताओं की क्या उपयोगिता है? इनकी उपयोगिता अनेक दृष्टियों से है। प्रथम और सामान्य उपयोगिता तो यह है कि इन व्यंग्य प्रपद्यों के माध्यम से कवि आज की विकसित हो रही रसहीन मानवता पर प्रहार करना चाहते हैं और बदले में मानव-हृदय के सहज संवेदन-रूप को सुरक्षित रखना चाहते हैं। यह एक प्रकार से प्रकृति की ओर पुनः लौट चलने (Back to the Nature) का आमन्त्रण है। द्वितीय यह है कि प्रपद्यवाद मात्र महिमाशाली अंशों तक अपने को सीमित नहीं रखता, यह उद्घाटन ऐसी ही कविताओं के माध्यम से इसने सिद्ध किया है। सहज भावुकता और रसमयता को पिछली सघन काव्य-परम्परा को प्रपद्यवादी किसी रूप में छोड़ रहे हैं, यह बात भी ऐसी ही कविताओं से प्रकट होती है, तब यह स्पष्ट हो जाता है कि इस वाद का इतना विरोध क्यों हुआ? वस्तुतः यह वाद जीवन के बाजार में झूठी मुस्कानों के स्थान पर सच्ची चोटें चलाना चाहता है। यह बहुत बड़े साहस की बात है, जिसके लिए एक ओर कबीर की-सी अक्खड़ता और दूसरी ओर झूठी भावुकता को छोड़ने का साहस चाहिए। 'प्रत्यूष' और 'वसंत गीत' ऐसे ही साहस स्पष्ट को करते हैं।

चित्राधान

प्रपद्य-संग्रह के इस नवम प्रपद्य को नलिन जी ने प्रपद्य का प्रारूप बताया है, इस कारण इस प्रपद्य की महत्ता स्वय सिद्ध है। प्रपद्य के विचार-दर्शन को स्पष्ट करने वाले इस प्रपद्य को पटना नगर के आधुनिकीकरण के परिप्रेक्ष्य मे रचा गया है। पटना को पुनर्रचना हो रही है। कवि को दु ख है कि नगर की शल्य-चिकित्सा के कारण इसकी सरल स्वाभाविकता समाप्त कर दी जा रही है। इसे सीधा-सपाट किया जा रहा है, जबकि कवि को 'कोणीय अवस्था' प्रिय है। पटना को काट-छाटकर 'कलम' (जैसे किसी पौधे को काट-छांटकर बनाते हैं) बनाया जा रहा है। कवि की इच्छा होती है कि यदि उनके पास ब्रश आदि रहते तो वे लैंड-स्केप बनाते। कवि ने प्रसंग-वर्णन मे पिकासो की चित्रकला का उल्लेख किया है।

कवि ने इस कविता को साभिप्राय प्रपद्य का प्रारूप कहा है। यह अभिप्राय *प्रपद्य-पूर्व के काव्य-जगत् की परिस्थिति के अध्ययन द्वारा स्पष्ट होता है।* प्रपद्य-पूर्व के हिन्दी काव्य-जगत् का परिवेश प्रगतिवाद था। साहित्य को उपयोगिता और मार्क्सीय मत की चौहद्दी मे बाध देने वाला प्रगतिवादी काव्य-आन्दोलन काव्य की कोणात्मकता अथच बुद्धिप्रधान कलात्मकता को पूर्णतः अस्वीकार कर रहा था। सामाजिक-आर्थिक परिप्रेक्ष्य के प्रति प्रतिबद्धता की संगति मे काव्य से दूर हो जाने की स्थिति हो गई थी, जैसा अभी 'पटना को कलम' बनाया जा रहा है। पिकासो की कला, लैंड स्केप आदि की चर्चा-द्वारा कवि ने अपनी काव्यगत मान्यताओं को प्रस्तुत किया है।

यहा कवि ने एक अतिशय महत्त्वपूर्ण सैद्धान्तिक चर्चा को आनुषंगिक रूप से अनुस्यूत किया है। यह विषय है, मानव की स्थूल दृष्टि और प्रकृति की सौदर्य गति। मानव अपनी आर्थिक-सामाजिक प्रतिबद्धता के नाम पर प्रकृति और उसके *सौदर्य को उपयोगिता के निकष पर परखना या उपयोगितावादी दृष्टि से* पुन-र्निर्मित करता है। इसमें जीवन की, विशेषत कला की, स्वाभाविकता क्षरित होती है। मार्क्स या तद्रूप चिन्तको की दृष्टि मे जागतिक उपयोगिता ही सर्वोपरि है, जबकि प्रकृति विविधता मे अस्तित्वमयी है। हमारी आधुनिक दृष्टि भला इसे क्यो स्वीकार करे। परिणामत', कला, सवेदना और भावना की भ्रूण हत्या होती है :

> पिकासो का अनुकरण किया है
> प्रकृति ने,
> *कोणवाद हो उठा साकार है*
> निस्सार : आधुनिक
> 'पटना कलम' है यह
> पश्चिम की कला का लगा है कलम इसमे
> भ्रूण-हत।

'चित्राधान' का रचनाकार पटना के पुनर्निर्माण को लेकर इतना चिन्तित क्यो है ? क्या वे यथास्थितिवादी है ? तब तो 'प्रयोग साध्य है' की उनकी अपनी ही मान्यता क्षरित हो जाती है। वस्तुत: कवि पुनर्निर्माण मे प्रयोग नहीं पाते। वे प्रकृति और जीवन की विविधता के प्रति आग्रहशील हैं। पुनर्निर्माण के पीछे जो हेतु या धारणा है, उसे वे अस्वीकार करते है। कहा जा चुका है कि यह पुनर्निर्माण प्रगतिवादी काव्य आन्दोलन को स्पष्ट करता है, जिसकी उपयोगितावादी एव स्थूल दृष्टि कवि को स्वीकार नही है। कवि सैद्धान्तिक रूप मे यह मान चुके हैं कि साहित्य को मार्क्स और फ्रायड से भी आगे जाना होगा तथा उसे किसी भी प्रकार की प्रतिबद्धता का परित्याग कर सर्वतन्त्र स्वतन्त्र बनना होगा। वास्तव मे यह स्वतन्त्रता कवि और कविता को निषेध प्रतिक्रियात्मकता से मुक्ति दिलाकर विधि के क्रियात्मक पाठ से जोड़ती है। काव्य में निषेध प्रतिक्रियात्मकता, जिसे कथन की सरलता की दृष्टि से उपयोगितावादी प्रतिबद्धता कह सकते हैं, वर्जित नही है, परन्तु विधि का क्रियात्मक पाठ या सृजनात्मक विधान ही काव्य मे मूल वस्तु है, क्योंकि मात्र इसी पद्धति मे कवि अपनी भावना और आत्मा को अपनी कविता मे पूर्णत: विसर्जित कर पाता है। यह एक प्रकार से कवि और काव्य का सनातन वैशिष्ट्य, उसकी अनिवार्य आवश्यकता भी है। कारण यह है कि निखिल ब्रह्माण्ड के अभेद्य रहस्यो के बीच मानव अपनी भौतिक-सांस्कृतिक आवश्यकताओ के मध्य खड़ा है। वह मात्र खड़ा ही नही है, अपितु आह्लादित, रोमाचित और दु खी भी होता है। वह आक्रोश, विध्वंस और सृजन करता है। वह कल्पनाए करता है। स्वय सवेदित होता है और अपनी सवेदना को स्थानांतरित भी करता है। इसी क्रम मे वह सृष्टि, प्रकृति और मानवीय सम्बन्धो के पारस्परिक अनुपात को निश्चित करता है। यही से सृजनात्मकता जन्म लेती है। इन सबके मूल मे व्यक्ति है, जिसका प्रतिनिधित्व कवि करता है। वस्तुत., कविता इसी पृष्ठ-भूमि में लिखी जाती है। अस्तु, समस्त को स्वीकार करके ही वह अपने वास्तविक अर्थ-बोध और प्रयोजन को प्राप्त कर सकती है। समस्त को प्राप्त करना तभी सम्भव है, जब वह स्वतत्र रहे। यह स्वतत्रता बाहरी भी हो, भीतरी भी हो। 'कलम' बनाकर, किसी एक निश्चित आकार मे ढाल देने से प्राकृतिक और सनातन विकास क्रम को प्रतिबद्ध कर देने से यह सभव नही है। मूलत. यही वह बिन्दु है, जिसके कारण कवि को पटना का पुनर्निर्माण स्वीकार्य नही है। यह 'चित्राधान' इसी भावभूमि प्रपद्य का प्रारूप होने की अपनी स्वाभाविक अभिधा प्राप्त करता है।

गीति-दर्शन :

प्रपद्य-प्राप्य की अभिधावाला नलिन जी का यह दूसरा प्रपद्य है। पूर्व प्रपद्य 'चित्राधान' में प्रपद्यवादी दृष्टि का विषय प्रकृति और मानव-प्रकृति के स्वतन्त्र

विकास को स्पष्ट करना था। प्रस्तुत प्रपद्य मे वर्तमान सामाजिक परिवेश मे बाहर-भीतर से टूटते और निराश होते जाते मानव समुदाय की स्थिति और इस स्थिति मे कवि-दायित्व की अभिव्यक्ति हुई है तथा यह स्पष्ट किया गया है कि ऐसी सामाजिक स्थिति में आज का कवि, विशेषत: प्रपद्यवादी कवि वस्तुत: करुणार्द्र होता है। इतना ही नही, यह प्रपद्य अपने ऊपर लगाये गए इस आरोप का भी खण्डन करता है कि यह वाद सामाजिक उत्तरदायित्वो से पलायन करता है यथा निविड़ ऐकान्तिक जीवन ही इसे प्रिय है। इस प्रपद्य के माध्यम से प्रपद्यवादी अपनी सामाजिकता को सामने लाते हैं। इसे समझने के लिए हमे सर्वप्रथम प्रपद्य की विषय-वस्तु को देखना होगा। कवि मानते हैं कि 'गीति' विद्युत की क्षणिक कौंध है। वह 'गर्जित नगराम्बुधि असीम' के ऊपर और 'विस्तृत अम्बर अपार' के नीचे लेटा हुआ है। वह देखता है कि एक फिसड्डी चिड़िया अन्धेरे मे वैसे ही भटक रही है, जैसे पाच साल की बच्ची कलकत्ते-जैसे विशाल शहर मे खो गई हो। यहा 'फिसड्डी चिड़िया' और 'कलकत्ते-जैसा विशाल शहर' प्रतीकार्थ-युक्त हैं। प्रथम प्रतीक दूसरे प्रतीक की संगति मे यह स्पष्ट करता है कि आधुनिकता के, हृदय-हीनता के विशाल सागर मे मानवीय भावना फिसड्डी चिड़िया के समान अस्तित्वहीन हो गई है। मानवीय भावना की यह नियति कवि को, प्रकारान्तर से प्रपद्यवाद को व्यथित करती है। इसे देखकर कवि का हृदय उतना ही आन्दोलित-उद्वेलित हो उठता है, जितना क्रौंच-वध देखकर आदि कवि हुए होगे। स्पष्टत यह प्रपद्य प्रपद्य का प्रारूप है और इस नाते यह इस वाद की सैद्धान्तिक-वैचारिक स्थिति को स्पष्ट करता है। यह भाव-भूमि दो दिशाओ मे प्रकट हुई है। एक दिशा है, यह बताना कि प्रपद्यवाद ऐसे ही अनुभवो को चित्रित करता है, जो सामान्यतः काव्य के विषय नही बनाये जाते रहे है। फिसड्डी चिड़िया ऐसे ही अनाकर्षक, अप्रचलित और असहाय व्यक्तियो के सीधे-साधे अनुभव खडो को प्रतीकित करती है। दूसरी दिशा है, यह बतलाना कि प्रपद्यवाद आत्मनिष्ठ होते हुए भी सामाजिक दायित्व से भागता नही है। उसकी समानुभूति समाज के साथ है, लेकिन उसकी दृष्टि नवीन है। उसमे उद्वेलन की धार भी अधिक है, और तटस्थता भी अधिक—

पर हृदय उद्वेलित उतना ही
जितना होगा वाल्मीकि का।

आदिकवि वाल्मीकि को उपस्थित कर, तथा उनके हृदय की सवेदना के साथ अपनी सवेदना की तुलना कर कवि ने किसी प्रकार का व्यतिक्रम अथवा अतिशयोक्तिपूर्ण दुस्साहस नही किया है। यह स्पष्ट है कि आज के कवि वाल्मीकि-से नही हो सकते। पर, यह निश्चित है कि काव्य रचना की जिस प्रकार की सवेदना वाल्मीकि के पास रही होगी, उतनी ही आज के कवि के पास है। सवेदना

तो अमापनीय है। परन्तु, वाल्मीकि और उनकी सवेदना की चर्चा से यह बात स्पष्ट होती है कि कवि आज का हो या कल का, उसके लिए सवेदना की आवश्यकता एक-जैसी है। यही संवेदना कवि को विद्युत कौंध देती है और काव्य रचना होती है—

गीति है भी कौंध क्षणिक विद्युत की।

किकिरीट मिश्र :

प्रपद्यवाद अनुकरण का सर्वथा विरोधी है, यहा तक कि इसे स्वय अपना अनुकरण भी स्वीकार नही है। यह एक वडी प्रतिज्ञा है और इसकी सुरक्षा के लिए यह आवश्यक है कि इसके कवि वस्तुओ को सदैव नये रूपो और भावसंगतियो मे देखते रहे। इसमे *नवीन की नवीनता-रक्षा के साथ* ही पुरातन को अपारम्परिक अर्थ देना, उसके अभिप्रेत को नई संगति देना आवश्यक-सा है। यदि ऐसा सम्भव हुआ, तभी *यह कहा जा सकता है कि अतीत इसके लिए खाद बन सका है।* प्रपद्यवाद मे वस्तुओं को नई दृष्टि से देखा गया है। इसलिए इसमे नई कल्पनाए प्राय मिलती हैं और नए-नए बिम्ब परस्पर गुथे रहते हैं। इस बात की सिद्धि उनके प्रपद्य 'किकिरीट मिश्र' से होती है। प्रपद्य का विषय है—पटना रेलवे स्टेशन से सचिवालय तक के राजपथ का पुनर्निर्माण। इस पथ की अलकतरे और ककरीट-मिश्रण से मरम्मत हो रही है। इसके ऊपर विशाल रोलर चल रहा है। निर्माण-कार्य की सामग्री, श्रमिक, उत्पन्न होने वाले वातावरण एव दृश्य तथा आधुनिक सामाजिक सन्दर्भ को कवि इस निर्माण-क्रिया की सगति मे देखते हैं और इन सबको सम्मिलित प्रभावान्विति मे उन्हे जीवन ही एक नए अर्थ-बोध मे रूपान्तरित होता हुआ दिखाई पड़ता है।

निर्माण-कार्य की सामग्री ककरीट और अलकतरे के मिश्रण, विशाल रोलर आदि है। ककरीट और अलकतरे के मिश्रण से निर्मित नव शब्द 'किकिरीट मिश्र' है। 'ककिरीट' शब्द से 'किकरीट' बनाकर कवि ने राजमुकुट (किरीट) को कुत्सित बताया है। यह कुत्सा-अर्थ इस रूप मे स्पष्ट होता है कि, शासक अपने लाभ के लिए इसी प्रकार के मिश्रण (जोड़-तोड़) तथा अपनी शक्ति के प्रयोग (रोलर) करता है। पथ की भावना को स्पष्ट करने के लिए निम्न बिम्ब अकित हुआ है—

नागरी धरित्री की वेणी ऋजु कैधो
उसकी साड़ी पर मनोहरण शिफन
का काला बार्डर अथवा
डरावना डिठौना अकित
दैत्य-बाल के भाल पर, गाल पर,
या सड़क शहर की कालिख-पुती हुई।

इस लौह-यन्त्र (रोलर) को काल-कूट का पान करने वाले भगवान शंकर से उपमित किया गया है—

> किंकिरीट मिश्र
> देव-दनुज मंथन करते उद्वेलित
> सागर का। कालकूट उत्थित।
> हो गया नील-तन संयमी त्रिअंबक लौह-यन्त्र।
> दश-दिशा व्याप्त गंध से तिक्त, तीव्र
> पीयूष की।

इसके उपरान्त, सड़क पर काम करने वाले श्रमिकों के कुंठित अन्तःकरण की वृत्ति पर टिप्पणी की गई है जो अपनी विवशता और व्यस्तता में प्रकृति के रमणीय दृश्यों की ओर आकृष्ट नही होते—

> प्रकृति रमणीया यदि न करती
> हरण अन्तःकरण उनका
> जो कुमार ही हैं, युवा नही
> तो बिचारी क्या करे, सिर धुन लगी पछताने।

अत में, ककरीट के मिश्रण पर लौह-यत्र के चलने का चित्र अंकित है—

> किंकिरीट मिश्र
> खांसने लगा
> गरज उठा

वर्तमान उपयोगितावादी संस्कृति और यान्त्रिक सभ्यता के परिणामस्वरूप प्रकृति के सौन्दर्य का महत्त्व घटा है तथा आज की जनसंकुलता, पारस्परिक दूरत्व और जीवन की कृत्रिमता ही हमारे लिए अमृतस्वरूप हो गए हैं। इन्हे दिखाने के लिए कवि ने प्रस्तुत प्रपद्य मे प्रयत्न किया है। इसी के अनुरूप नए उपमान रचे गए है। एक हीन और तुच्छ वस्तु या तथ्य का चित्रण करने के लिए भव्य शैली का आयोजन हुआ है, इस भव्यता मे भाव-प्रकृति के स्थान पर अर्थ-प्रकृति अधिक प्रभावी हो गई है। यथा, नागरी-नायिका की ऋजु वेणी को राजपथ के लिए व्यवहृत किया गया है तथा उसकी साड़ी पर लगी मनोहरण शिफन की मनोहर काली किनारी तथा किसी दैत्य बाला के भाग्य अथवा गात पर अंकित काले भयंकर डिठौने की उपमान के रूप मे नियोजना की गई है। सड़क पर अलकतरे के गहरे उमड़ते लेप की भावना के लिए कवि साहचर्य अथवा आसंग के सहारे, देव-दनुजो द्वारा मथित समुद्र से निकले कालकूट की कल्पना करते है। लौह यन्त्र उन्हें विषपान करने वाले भगवान शकर की याद दिलाता है। अलकतरे की गंध को तिक्त, तीव्र पीयूष की गन्ध बताकर यह भाव ध्वनित किया गया है कि

नव जातक :

'नकेन के प्रपद्य' संग्रह की प्रस्तुत कविता आधुनिक मानव-सभ्यता को चुनौती है। सच में चुनौती ही नहीं, मानव की मानवता को फिर से जाचने का यह एक सहज और तटस्थ चित्रण भी है।

पशु जीवित प्राणी है :
मनुष्य भी जीवित प्राणी है :
इसलिए मनुष्य पशु है।

इस केन्द्रीय विचार-दर्शन पर कविता 'नवजातक' की प्राण-प्रतिष्ठा की गई है। कवि ने यह अनुभव किया है कि मानव की तुलना में, अनेक अंशों में पशु श्रेष्ठ है। कवि की यह स्थापना परम्परागत और आधुनिक या वैज्ञानिक विचार-सम्पन्न लोगो के लिए मानसिक-वैचारिक आघात-स्वरूप है। पारम्परिक आदर्शवाद विचारक मनुष्य को ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ रचना मानते हैं और वैज्ञानिक मनुष्य को पशुओ से विकसित श्रेष्ठ स्वरूप। इस प्रकार, दोनो दृष्टियों से, पशु से मानव श्रेष्ठ है। अस्तु, नलिनजी की यह स्थापना कि अनेक अशों में पशु श्रेष्ठ है, आघात उत्पन्न करती है।

कवि ने अपनी स्थापना के समर्थन मे एक असामान्य कथा उपस्थित की है। धनुआ भील निष्ठुर व्याध के रूप में, मृत्युदूत बनकर वन्य-प्रान्तर में वन-पशुओं का शिकार करता था। उसे एक दिन एक विषधर ने डस लिया। वह घनी झाड़ी मे भू-लुठित हो गया। वह हिरणी आई; पहले सभय, फिर समीप हुई। उसने करुणार्द्र नेत्रों से उसे निहारा। वह देर तक ठिठकी खड़ी रही। धीरे-धीरे उदासीन और मर्माहत होकर चली गई। कवि अनुभव करते हैं कि उसकी मार्मिकता धनुआ भील को उस भू-लुठित अवस्था मे देखकर जितनी घनीभूत पीड़ा हुई, उतनी अपने पति और पुत्र को खोकर भी नहीं हुई थी, यद्यपि उसके पति और पुत्र का वध इसी व्याध ने किया था।

बुद्धचरित-कथा मे जातक-शृखला के माध्यम से यह दिखाया गया है कि भगवान बुद्ध पशु, पक्षी आदि विभिन्न योनियों में अवतरित होकर अपनी करुणा, सत्यनिष्ठा और जीवमात्र के लिए समानुभूति की भावना प्रदर्शित करते रहे। एक प्रकार से जातक कथा अधिमंजुषित कथा (Emboxed Story) है जिसमें जीवन को विभिन्न खड़ों में रखकर, सत्य का अनुसधान किया गया है। स्वाभाविक है कि बुद्ध के प्रत्येक जन्म सत्य के प्रयोगात्मक निष्कर्ष हैं। विभिन्न योनियो मे समानुभूति प्रदर्शन करने की क्रिया मे कल्पना और आस्था की अतिशयता की संभावना है। कवि के समक्ष आज एक सर्वथा नवीन जातक कथा उपस्थित होती है। जातक कथा के केन्द्रनायक थे अमिताभ। इस कथा-केन्द्र मे है यह हिरणी। 'जातक' बुद्ध का स्नेह-समानुभूति प्रदर्शन निरपेक्ष था, बिना कुछ खोये देना था।

पास जीवन की मत्व दृष्टि है, वही श्रेष्ठ है; चाहे वह मानव है या पशु। वास्तविकता यह है कि मानवकृत सरचना का आज कोई अर्थ नहीं रह गया है। दो-दो महायुद्ध और महाविनाश की दिनानुदिन की तैयारिया, इसे सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं। इस कारण अब भौतिक आकांक्षा मुख्य अभिप्रेत नही होना चाहिए। अब मुख्यता संवेग और सवेदना को प्राप्त होनी चाहिए। नवजातक का जातकत्व इस भाव मे सुरक्षित है कि अब नारायण, अवतार-ग्रहण कर उद्धारकर्ता नही बनेंगे। अब मानव को स्वय अपने हृदय के नारायण सत्वभाव को जगाना होगा।

प्रपद्यवादियो की यह मान्यता रही है कि कविता शब्दो से लिखी जाती है तथा काव्य मे उत्कृष्ट केन्द्रण होता है। अर्थात् विषय और सम्प्रेषण के ये दो माध्यम अथवा माध्यम-प्रक्रियाए हैं। अस्तु, यह अत्यन्त आवश्यक है कि विषय और संप्रेषण के मध्य एक अनुपात होना चाहिए। अनुपात नही रहने पर प्रभावान्विति असभव हो जाएगी। सही और संतुलित प्रभाव से हमारा तात्पर्य है, बड़े-से-बड़े विषय और सदेश को कम-से-कम शब्द, सभव हो तो घटना, दृश्य अथवा शब्द की एक छोटी-सी कौंध के द्वारा स्पष्ट कर दिया जाए। 'नवजातक' की प्रस्तुत पक्तियो मे यही कौंध या प्रकाश-क्षण उपस्थित है—

एक हरिणी की आखें हुई थी
आर्द्र' उससे भी बड़ी व्यथा
कोई होती है क्या, जो
व्यक्त होती ही नहीं कभी ?···

निशि-विहग :

'नकेन के प्रपद्य' सग्रह के प्रस्तुत प्रपद्य मे मुक्त आसग के उपकरण-द्वारा कथ्य को एक विशेष भगिमा द्वारा स्पष्ट किया गया है। कथ्य को कथन की भंगिमा द्वारा स्पष्ट करना, असामान्य बात है और यह तभी सभव है जब कथ्य के अनुकूल कला-पक्ष हो। कला अथवा कथन की भगिमा असामान्य परिस्थितियो मे आवश्यक-सी हो जाती है। इसकी आवश्यकता उलझी सवेदना के युग मे तथा बुद्धि-प्रधान काल मे अधिक प्रखर हो जाती है, क्योंकि ऐसी विशेष परिस्थिति में भावात्मक सवेदना की अपेक्षा ज्ञानात्मक सवेदना ही मानव को तुष्टि दे पाती है। प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि बुद्धि-प्रधान युग मे कला और साहित्य को विशेष प्रकार की कथन-वक्रता या कथन-भगिमा का आश्रय लेना पड़ता है। हमारा वर्तमान इसी प्रकार के आवेष्टन से युक्त है। ऐसी स्थिति मे अपने कथ्य को स्पष्ट करने के लिए प्रपद्यवाद मुक्त आसग का सहारा लेता है। इसकी धारणा है

कि आज का मानव एक ही साथ कई भाव-स्तरों पर जीता है। समस्याओ और चिंतन की कई परतो के बीच उसका व्यक्तित्व घिरा रहता है। ऐसी अवस्था मे किसी एक विषय पर वह केन्द्रस्थ नही हो पाता। एक ही साथ कई-कई विषय जन्म लेते हैं। इन विषयो के मध्य परस्पर सम्बन्ध हो भी सकता है, नही भी हो सकता है। 'निशि विहग' प्रपद्यवाद की इसी विशिष्ट चिन्तन-पद्धति की पीठिका पर रचित प्रपद्य है। इसमे कवि ने अपनी वैयक्तिक विवशता का चिन्तन किया है। वर्ण्य-विषय निशि-विहग (उल्लू) के आलंबन द्वारा सामने लाया गया है। निशि-विहग रात्रि-जागरण करता है। यह इसकी स्वाभाविक प्रकृति है। गीता की प्रसिद्ध स्थापना है : 'या निशा सर्वभूताना तस्या जागर्ति संयमी'। इस स्थापना-आधार पर कवि विचार करते हैं—रात्रि-जागरण तो दो ही प्रकार के लोग करते हैं—सयमी या व्यभिचारी। उल्लू के जागरण में न तो चौर्यवृत्ति है, न सयमी रूप। यही से मुक्त आसग की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। वे पुनः सोचने लगते है, 'उल्लू भी तो जगा हुआ है! क्या चिड़ियो मे 'सयमी' और 'चोर' नही होते?' और कौंध जाती है अपनी स्थिति कि वह भी तो जगा हुआ है? लेकिन, वह (कवि) न तो सयमी है और न व्यभिचारी। उसका जागना विवशतावश है। उसकी विवशता यह है कि घर मे रोगी मरणासन्न है और उसे दवा लानी है। निष्कर्ष यह है कि यहां मुक्त आसंग के सहारे संवेदना की विभिन्न तहो को आयाम देकर जीवनगत स्थिति को एक नए कोण से देखने का प्रयास है। यह नया कोण आधुनिक मानव के अध्ययन का सार्थक प्रयत्न इस कारण है कि मानसिक-आर्थिक समस्याओ की विभिन्न तहो मे जी रहे मानव को पढने की यही स्वाभाविक दिशा है।

शान्ति :

'शान्ति' आध्यात्मिक-मनोवैज्ञानिक आकाक्षाओ का क्षेत्र है। इन दोनो की गतिदिशा (एप्रोच) भिन्न है। आध्यात्मिक दृष्टि से बैकुण्ठ की प्राप्ति होने पर ही शान्ति पाई जा सकती है और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इच्छाओ की सतुष्टि मे शान्ति मिलती है। आध्यात्मिक दृष्टि से शान्ति मुक्ति या मोक्ष है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से शान्ति मानसिक तृप्ति है। अध्यात्म-चिंतन मे जिसे बैकुण्ठ कहा गया है, मनोविज्ञान मे वही कुठा-रहित स्थिति है। किन्तु क्या कुठा-रहित होना, इच्छाओ की समाप्ति हो जाना सरल है? इच्छाए अनन्त हैं। मनोविज्ञान बताता है, हम अपनी अधिकाश इच्छाओं की तृप्ति नही कर सकते। तृप्ति नहीं कर सकने में तो कुछ वाह्य कारण (आर्थिक-सामाजिक परिस्थितियां) हैं, तो कुछ आन्तरिक कारण भी। आन्तरिक कारणो में प्रमुखतम है मानव की अपनी वासना। वासना से इच्छा जन्म लेती है। इच्छा वाह्य और आन्तरिक शान्ति का हनन करती है। इस प्रकार

शान्ति हमसे क्रमश. दूर होती जाती है। स्पष्ट अर्थ है कि जब तक वासना है, शान्ति नही मिलेगी। कवि यह शान्ति तो चाहते हैं, किन्तु अपनी वासना की समाप्ति पर या वासना की शान्ति का मूल्य चुका कर नही। वे अनुभव करते हैं कि वे जीवन-स्तर पर 'पूजी का सूम' है। अपनी इस कृपणता के कारण वे 'दिल की कीमती धडकनो के सिक्के' के रूप में मूल्य चुकाकर शान्ति पाना नही चाहते :

मैं जिन्दगी की पूजी का
सूम हू। वासनाएं
मरें नही, चाहता यही हूं।
आनन्द उठा सकू और कुछ भी
देना न पडे, नीयत है ऐसी

वह दोनो ही स्तरो पर जीना चाहता है। एक के मूल्य पर दूसरे की प्राप्ति वह नही चाहता। लेकिन विवशता है :

लेकिन कीमत अदा करनी पड़ती है
दिल की धड़कनो के सिक्को मे।

और उसे लगता है कि यद्यपि यह सूम है, पर्याप्त सतर्कता के साथ दिल की धड़कनो को खर्च कर रहा है, फिर भी एक दिन उसकी समाप्ति होगी ही। उस समय शान्ति होगी, लेकिन वह विशुद्ध नही होगी :

इत्ती थोड़ी सी पूजी है :
सूम होने पर भी मेरी पूजी यह
चुक जायगी अचानक किसी दिन।

उस समय कैसी घबराहट होगी :

कैसा इत्मिनान कैसी शान्ति।

नलिन जी के प्रस्तुत प्रपद्य की महत्ता इस कारण है कि इसमे दर्शन और विचार का नया प्रक्षेत्र विकसित किया गया है। आज तक आध्यात्मिक दृष्टि-सम्पन्न लोगो ने इच्छा-रहित होने पर वासनाओ के शमन पर ही मुख्य जोर दिया है। मनोवैज्ञानिक भी पीछे नही हैं। ये भी कह डालते हैं, इच्छाएं मर नही सकतीं। एक शान्ति को परम काम्य मानता है, दूसरा इसे असंभाव्य समझता है। कवि इन दोनो से भिन्न हैं। वे शान्ति चाहते हैं और मानते हैं कि इच्छाओ और वासनाओ का *त्याग करके इसे वे पा सकते हैं। किन्तु, मूल बात यही है कि वे इन्हें त्यागना नही* चाहते। वे मानव को मानव-रूप मे ही रखना चाहते हैं। इच्छा-वासना-रहित देव नही बनाना चाहते या फिर वे अनुभव करते हैं कि आध्यात्मिक सिद्धि की चरम अवस्था पर पहुच जाने के बाद या निर्विकल्प समाधि के चरम क्षण मे भी मन के किसी-न-किसी अज्ञात कोने मे इच्छा का अश शेष बचा ही रहता है। इस शेष

बचे अंश को क्या हम मानव अस्तित्व की मौलिकता नही मानें ? और इसे खोकर, इसका मूल्य चुकाकर शान्ति पा भी ली तो क्या उसे शान्ति माना जा सकता है ? वैसी अवस्था मे क्या अपनी हार्दिकता या अस्तित्व की मौलिकता के खो देने का बोध हमे अशान्त नही कर डालेगा ?

क्या :

महाभारतीय यक्ष प्रश्न 'का वार्ता ? किमाश्चर्यम् ?' बहुश्रुत प्रश्न रहे हैं। इन प्रश्नो के द्वारा जीवन के महाव्याख्याकार महाकवि वेदव्यास ने मानव के समक्ष सतत विद्यमान रहने वाली समस्याओ को सुलझाने का बड़ा ही सार्थक यत्न किया है। प्राय: ऐसे ही प्रश्नो के द्वारा दर्शन के द्वार भी खुलते हैं। गहन प्रश्नों के उपस्थित होते ही चिन्तन के नए आयाम स्वत: निकल आते हैं। 'नकेन के प्रपद्य' मे संग्रहीत प्रस्तुत प्रपद्य मे कवि ने इसी प्रकार का एक यक्ष प्रश्न उपस्थित किया है। इस प्रश्न मे अनुभूति की सहभागिता हम सब की है। अस्तु, निवेदन किया जा सकता है कि कवि ने मानव-मात्र की अनुभूति या उसके प्रश्न को यहा उपस्थित किया है।

जीवन की शाश्वत धारा मे कवि यह देखते हैं कि जीवनगत घटनाएं और सम्बन्ध रागबद्ध होकर, एक ही लय-ताल मे, सजते-संवरते चले जा रहे हैं। मनुष्य क्षण-दिवस-मास-वर्ष की घटित और समाप्त होती जाती इसी प्रक्रिया मे अपनी जीवन-यात्रा की समाप्ति कर डालता है। लेकिन, उसे प्राप्त क्या होता है ? आत्मिक, मानसिक एव रागात्मक स्तरो पर वह शून्य का शून्य रह जाता है। कुंठा में वैकुण्ठ की स्थिति के उसे दूर-दर्शन भी नहीं हो पाते। यह तथ्य है कि हम किसी अनजाने, अद्भुत आतंक से स्वय को बचाने के लिए व्याकुल रहते हैं। हमारी चेष्टाएं आजन्म उसी एक दिशा में कार्य करती है, तथापि नया परिवर्तन कुछ भी नही होता। इसी भावावेष्टन मे कवि का प्रश्न उठता है—

> रात भर तृण भय विकंपित
> और हवा व्याकुल
> पहरा दे रहे हैं
> आभास पाकर किसी काली
> अद्भुत वस्तु के अस्तित्व का,
> पूछते दोनो परस्पर—
> पूछता ज्यो मैं—
> 'क्या सुबह होगा ? कल वही दिखलायेगा क्या ?

आषाढ़ का पहला दिन :

प्रपद्य संग्रह का यह प्रपद्य काव्य-सृजन के एक विशिष्ट सिद्धान्त को सामने लाता है। इस सिद्धान्त का निष्कर्ष वैसे व्यक्तियो के लिए आश्चर्य मिश्रित होगा जो प्रपद्यवाद को निजी वैयक्तिक और आपाततः उलझी सवेदना का वाद मानते हैं। ऐसे आलोचको की दृष्टि मे प्रपद्यवाद से एक ओर तो सामाजिक कर्त्तव्य बोध की तथा दूसरी ओर वस्तुवादी चिन्तन की अपेक्षा की ही नही जा सकती। सामाजिकता के अभाव के सम्बन्ध मे प्रपद्यवाद की वस्तु स्थिति का अध्ययन 'नीति दर्शन' के रूप मे करके यह कहा जा चुका है कि यहा सामाजिकता किसी भी सामाजिक कहे जाने वाले कवि की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है। काव्य मे वस्तुवादी चिन्तन के सम्बन्ध मे यथार्थ बोध प्रस्तुत प्रपद्य *'आषाढ़ का पहला दिन' भी कराता है। नव्य आलोचक के रूप मे नलिन जी* की मान्यता थी कि रचना के वस्तुवादी अध्ययन द्वारा रचना से ही आलोचना के सूत्र ढूढे जाने चाहिए। इसी सिद्धान्त को प्रस्तुत प्रपद्य स्पष्ट और सबल करता है। प्रपद्य का वर्णित विषय है कि स्थावर जगत मे प्रकृति के रमणीय एव प्रभावोत्पादक दृश्यो के वस्तुनिष्ठ चित्रण मे ही पाठक मानसिक तादात्म्य का अनुभव कर सकता है। अन्य व्यापारो की गद्यात्मकता उसमे ऊब ही उत्पन्न करती है। इस स्थापना के पीछे तर्क यह है कि कविता न तो कोरी वैयक्तिक अनुभूति है और न ही प्रत्यक्ष अनुभवो की कोरी उद्धरणी ही। ऐसी स्थिति मे प्रश्न आता है, तब कवि-कर्म क्या हो ? उत्तर दिया गया है, प्रकृति के रमणीय एव प्रभावोत्पादक दृश्यो का वस्तुनिष्ठ चित्रण करना। हमारी दृष्टि मे काव्य का विषय क्षेत्र प्रकृति के रमणीय एव प्रभावोत्पादक दृश्य ही नही होते। ये आनुषागिक विषय बनाये जा सकते हैं। आज के युग मे निराशा, हताशा, युद्ध, अभाव और सघर्ष की चुनौतियो को झेलते मानव को रसहीन होने और टूटने से बचाने का, उसकी मानवता की रक्षा करने का, मानव मन को स्नेहशील और उत्साही बनाये रखने का परम दायित्व कवि और काव्य का है। प्रकृति के आनुषागिक चित्रण द्वारा यह लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है। इसी अर्थ मे प्रकृति, कवि और काव्य के लिए वर्तमान परिस्थितियो मे महत्ता प्राप्त करती है, न कि इसके रमणीय एव प्रभावोत्पादक दृश्यो के वस्तुनिष्ठ चित्रण मे। नलिन जी युगीन आवश्यकता की इस विशिष्ट माग को समझते हैं और 'प्रकृति की ओर चलो' (Back to the nature) की इच्छा व्यक्त करते हैं।

प्रस्तुत प्रपद्य मे कवि ने ग्रीष्म की रात मे अपने अनुभवो को लिपिबद्ध किया है। गर्मी की रात प्रशान्त नीरवता और तमिस्रा से घिरी हुई है, यद्यपि कुछ दूरी पर एक मकान की खिडकी उद्भासित हो जाती है। झिल्ली जग जाती है। बगल के कमरे मे दीवार घडी धीरे-धीरे फुसफुसाती है। बहुत दूर एक बाजारू कुत्ता

भौंकना है। उसका भूंकना नैश शान्ति में उसी प्रकार धस जाता है जैसे गहरी अंधेरी रात मे नई मोटर की बत्ती घमती है। और तब उस नीरव रात्रि मे रेलवे इन्जन हांफ उठता है। फिर कवि सो जाता है और निस्तब्धता छा जाती है। कवि तभी जागेगा जब।

मेघो के मृदग मद्र
जगाते नही प्रभात को
आषाढ के प्रथम दिवस।

ग्रीष्म, रात्रिकालीन अधकार, नई मोटर की तीव्र रोशनी, इजन का हाफना और मेघो के मृदग मद्र स्वर पर ही कवि के जागने की इच्छा आपस मे अद्भुत गति से संगुंफित हैं और प्रतीकात्मक अर्थ देते हैं। 'ग्रीष्म' व्याकुलता और रस-रिक्तता का, 'अधकार' निराशा और मार्ग नही देख पाने की स्थिति का, 'इजन का हाफना चीखना' यान्त्रिक सभ्यता का, 'नई मोटर की तीव्र प्रकाश वाली बत्ती' आधुनिक चकाचौंध प्रियता के प्रतीकार्थ देते है। स्पष्ट है कि ऐसी अवस्था मे वस्तु का वस्तुनिष्ठ अध्ययन कोई विशेष महत्त्व नही रखता। इसका विकल्प है, वैयक्तिक अनुभूति और प्रकृति के रमणीय रूप का समायोजन। मात्र ऐसी ही प्रक्रिया मे रचा जाने वाला काव्य आधुनिक मानव को भावार्द्र कर सकता है।

सागर-संध्या :

गम्भीरता और विराटता को उपमित करने के लिए 'सागर' शब्द का प्रयोग शास्त्र और लोक दोनों मे प्रचलित रहा है। इसी प्रकार 'सध्या' शब्द अवसान और समाप्ति का द्योतन करता है। इन दोनों शब्दो के सम्मिलित प्रतीकार्थ को लिया जाए तो अर्थ होगा—विराट् और गम्भीर की समाप्ति। यह विराट् और गम्भीर वस्तु है क्या? सामान्य अर्थ में सर्वोच्च शक्ति-सम्पन्न प्रभु। कवि ने इस सामान्य अर्थ से भिन्न अर्थ-ग्रहण करते हुए विराट् और गम्भीर का अर्थ काव्यशास्त्र मे प्रचलित भाव और शिल्प-सम्बन्धी स्थापित मान्यताओ के अर्थ मे लिया है। विश्व साहित्य मे प्रायः ऐसा ही हुआ है कि कुछ शब्द-प्रयोग, कुछ बिम्ब-विधान और कुछ उपमान-आदि इतने अधिक प्रचलित हो जाते हैं कि विशिष्ट और सामान्य दोनो प्रकार के कवि उनका प्रयोग करने लगते हैं और इस कारण भाव और शैली-क्षेत्र मे रूढ़ियां जन्म लेती है। प्रयोगवाद अथवा प्रपद्यवाद ऐसी ही काव्य-रूढ़ियों से काव्य को मुक्ति देने का यत्न है। अस्तु, इसके लिए यह आवश्यक है कि यह 'सागर-सध्या' (लोकप्रचलित, किन्तु काव्य मे रूढ़िवत, नीरस काव्य-पद्धति की समाप्ति) की घोषणा करे तथा नए शब्दप्रतीक, बिम्ब और अवस्थाओ के प्रयोग के द्वारा काव्य की उसकी नीरसता से रक्षा करे। 'सागर-संध्या' प्रपद्य की वैचारिक पृष्ठ-

भूमि यही है। इसमे कवि ने वस्तुस्थिति का पृष्ठभूमि-रूप मे उपयोग कर भाव और व्यंजना के स्थापत्य के द्वारा चकित कर देने वाला निर्वैयक्तिक बिम्ब-विधान किया है:

> बालू के ढूह हैं जैसे बिल्लिया सोई हुई
> उनके पजो से लहरें दौड भागती।
> सूरज की खेती चर रहे मेघ मेमने
> विश्रब्ध, अचकित।

यह अनुभव किया जाना चाहिए कि कवि ने इन पक्तियो मे एक ओर उदात्त और सामान्य का मिलन एक बिन्दु पर किया है, वही लघुता को महत्ता प्रदान की गई है। सागर आज बिल्लियो के पाव चूम रहा है तथा मेमने सूरज के पराक्रम के सामने नि शक हैं। यहा लघुमानववाद को प्रतिष्ठा मिलती है। इस लघुमानववाद को दो धरातलो पर समझना होगा। प्रथम कि आज सास्कृतिक विघटन की पृष्ठभूमि पर व्यक्ति कई कारणो से लघु (क्षुद्र, सीमित, असहाय और नितात अकेला) हो गया है, परिणामत: उसकी विराट् कल्पनाएं अपनी सामर्थ्य खो चुकी है। दूसरा धरातल यह कि इस विघटन की अवस्था मे जीवन-मूल्यो का ह्रास हुआ है, उसके कारण लघुता विराटता को चुनौती देने लगी है। सूरज और सागर दोनो विराट् हैं और दोनो को लघुता चुनौती दे रही है। यह चुनौती सामाजिक जीवन की चेतना को सास्कृतिक धरातल पर उतारने का प्रयास है। यह समझने मे बौद्धिक श्रम की कोई आवश्यकता नही कि सूरज का 'बेचारापन' पुराने मूल्यो के टूटन का एक उदाहरण है। ऐसी अवस्था मे यह स्वाभाविक है कि कवि कुछ नूतन मूल्य की स्थापना करने का प्रयास करे। वस्तुत यह स्थापना ही नये मानदण्ड होगे, जिस पर जीवन की सिसृक्षा एक नया सृजन प्रारम्भ करेगी:

> मैं महाशून्य मे चल रहा—
> पीली बालू पर जगम बिंदु एक—
> तट-रहित सागर एव अम्बर और धरती के
> काल-प्रत्न त्रयी-मध्य से हो कर।

कवि द्वारा प्रस्तुत आत्मबोध 'मैं महाशून्य मे चल रहा' ध्यातव्य है। इसका प्रयोजन मात्र कवि की मनःस्थिति या प्रस्तुत प्रपद्य के बोध की दृष्टि मात्र से ही नही है, अपितु यह आज के रचना परिवेश को स्पष्ट करने के लिए भी आवश्यक-सा है।

भारतीय तत्त्व-चिंतन की दृष्टि से 'शून्य' का अध्ययन अत्यन्त गम्भीर विषय है। इसके प्रणेता आचार्य नागार्जुन हैं। सामान्यत. 'शून्य' का अर्थ 'सत्ता का

अभाव' लिया जाता है, जो भ्रमपूर्ण है। नागार्जुन ने शून्य की व्याख्या करते हुए कहा है कि इसे शून्य भी नहीं कह सकते, अशून्य भी नहीं कह सकते, और शून्य-अशून्य भी नहीं कह सकते। इसी भाव की प्रज्ञप्ति के लिए 'शून्य' शब्द का व्यवहार होता है। यह सर्वव्यापी महत्तम विभु है जिसकी तीन विधाएं है—(1) परिनिष्पन्न ज्ञान— जिसके लक्षण है भाव और अभाव मे समानता। यह एक प्रकार से नैरात्म्य ज्ञान है। यह द्विविध है—धर्म नैरात्म्य ज्ञान (सासारिक वस्तुओ का नैरात्म्य या शून्यता), पुद्गल नैरात्म्य (आत्मा जैसी किसी शाश्वत सत्ता के अभाव का ज्ञान), (2) समज्ञान—समस्त वस्तुओ के उत्पाद से सब कुछ आदि रहित है, अन्तरहित है, ऐसा अद्वय ज्ञान, (3) भावाभाव—चित्त, अचित्त, भव निर्माण, शून्याशून्य इन सभी द्वैतो का निषेध कर चित मे उदित होनेवाले शून्य ज्ञान की साधना। यह साधना अत्यन्त सूक्ष्म है। साधना-पद्धति मे शून्य के चार स्वरूपो को स्वीकार किया गया है—शून्य, अतिशून्य, महाशून्य तथा सर्वशून्य। इनमे महाशून्य आलोक तथा आलोकाभास के युगनद्ध से उदित होता है। यह अविद्या रूप है। अस्तु, परम तत्त्व से थोड़ी दूर है।[58] विचारणीय प्रश्न है कि कवि नलिनजी जिस महाशून्य की बात करते हैं क्या उसका किसी दार्शनिक प्रपत्ति से सम्बन्ध है? दर्शन मे शून्य या महाशून्य की जो व्याख्या है, कवि का महाशून्य उसके समीप अगम्भीर भाव से पहुंचता है, जिसमे अर्थाभास या परिचय-मात्र ही है, पूर्ण ऐक्य नहीं। कवि द्वारा प्रस्तुत 'महाशून्य' जीवन की निस्सारता का द्योतक है। परिनिष्पन्न ज्ञान के अन्तर्गत जिस धर्म नैरात्म्य की बात बताई गई है, उसके साथ जीवन की निस्सारता की तुलना किंचित् रूप मे की जा सकती है, क्योकि दोनों अपने-अपने ढंग से जीवन को एक ही रूप मे देखते हैं। इसे ही टी० एस० इलियट ने कहा था—'वी आर द होलो मैन'। जीवन का यह महाशून्य सामाजिक मूल्यों के विघटन का फल है। इस शून्यता के कारण मानव का अस्तित्व ससार की बालुका राशि पर एक बिन्दु के समान है। जीवन के प्रति इस प्रकार का भावबोध अस्तित्ववादी चिंतन के बहुत निकट है। अस्तु, यह कहा जा सकता है कि भारतीय शून्यवाद एवं पश्चिम के अस्तित्ववाद मे बहुत साम्य है। महाकवि इलियट ने भी 'वेस्ट लैंड' मे जीवन को एक मरुभूमि के रूप मे चित्रित किया है। 'पीली बालू' प्राय: उसी से अनुप्राणित है।

नलिनजी के प्रपद्य मे नयी कल्पनाए भी उपलब्ध होती हैं। 'सागर-संध्या' प्रपद्य में बालू के ढूहों की तुलना सोई हुई बिल्लियों से की गई जिनके पंजों से लहरें दौड़ भागती हैं, और 'सूरज की मैनी' को विश्रब्ध 'मेघ-मेमनों' से चरवाया गया है।

धूलप :

नलिनजी के 'धूलप' शीर्षक प्रपद्य की व्यावहारिक समीक्षा के माध्यम से प्रपद्यवाद के आयामो का अनुसधान किया जा सकता है। प्रपद्य का केन्द्रीय भाव-तत्त्व इसके शीर्षक मे सश्लिष्ट हो गया है। इस सश्लेषण के तीन आयाम हैं। ये तीनो निम्न तीन शब्दो मे अभिव्यक्त होते हैं। शब्द है—धूल, धूप और लप। पूर्व मे यह निवेदन किया जा चुका है कि प्रपद्यवाद मे शब्दों को तोड़कर अथवा विशेषक्रम मे जोडकर प्रचलित शब्द को नया रूप दिया जाता है। इस नये रूप मे नयी अर्थवत्ता उत्पन्न हो जाती है। 'धूलप' शब्द का निर्माण इसी प्रक्रिया से हुआ है जिसमे धूल, धूप, और लप शब्द सयोजित हुए हैं। इन तीनो शब्दो का क्रमश अध्ययन स्वाभाविक है। किन्तु, इसके पूर्व हम प्रस्तुत प्रपद्य के प्रस्थान एवं निष्कर्ष बिन्दुओं को देखना स्वाभाविक समझते है, क्योकि इनके परिचय पर प्रपद्य के अर्थ और भाव-बोध निर्भर करते हैं।

प्रस्थान बिन्दु है—

> धूल बहुत उड़ती है
> शाम के अलावा भी,
> गायो के बिना भी।

तथा निष्कर्ष बिन्दु है—

> मुझे धूलप को
> बिना चश्मा लगाये देखना
> भाता है।
> और ऐसी लाचारी।

धूल, धूप और लप मे 'धूप' खड समय सकेतार्थक है। इसके साथ 'धूल' खड सयुक्त होकर गोधूलि वेला का द्योतन करता है। गोधूलि का लोक प्रचलित अर्थ है सध्या। 'गो' के सस्कृत मे पचीस से अधिक अर्थ है, जिनमे सूर्य तथा किरण भी हैं। जब सूर्य किरणें धूलिवत हो जाए या सूर्य ही धूलिवत हो जाय, वह काल-विशेष गोधूलि (सध्या) है। 'गो' शब्द का सर्वाधिक प्रचलित अर्थ गाय है। प्राचीनकाल मे गुरुकुल शिक्षण-पद्धति का प्रचलन था। आश्रमवासी शिष्य गुरु की गायें लेकर आश्रम से प्रात काल ही निकल पड़ते थे। इस काल विशेष को गोसर्ग या गोविसर्गः कहा गया है। सध्या समय वे शिष्य उन गायों को लेकर आश्रम लौटते थे। हजारो गायो के एक साथ आगमन के समय उनके खुरो से धूल उड़ती थी। वह समय सध्या का होता था। इसी समय (सध्या) तथा अवस्था (धूल उडना) की सापेक्षता मे गोधूलि शब्द निर्मित हुआ और आज यह सध्या अर्थ मे रूढ़ हो चुका है। समासत., धूल के उड़ने के कारण गोपद—गोचारण तथा इसका सम्यक् समय सायं माना जाता है।

किन्तु, आज आश्रमवासी शिष्यगण हज़ारों गायों को लेकर गोचारण करने नहीं निकलते और परिणामतः उनके सायंकाल वन से वापस लौटने का प्रश्न ही नहीं उठता। फिर भी धूलिकण उड़ते हैं और यहां तक कि सध्या भी हो जाती है। स्पष्टतः गोचारण-पद्धति समाप्त हो जाने के कारण संध्या कभी होनी ही नहीं चाहिए। किन्तु, सध्या भी होती है और संध्या के समय के अतिरिक्त भी धूल उड़ती है। यह आश्चर्य है। इसमें भी अधिक इसमे हास्य-मिश्रित व्यंग्य अनुस्यूत है। धूल उड़ रही है, इस वास्तव की प्रतिक्रिया के आसंग मे शब्दशास्त्र तथा सास्कृतिक दृष्टि का प्रत्यक् परिवेश (Flashbak Situation) को कवि उपस्थित कर देते हैं। यही 'प्रपद्यवाद प्रयुक्त प्रत्येक शब्द और छन्द का निर्माता है' की सूत्र सिद्धि हो जाती है।

आयाम के दूसरे खंड मे 'लप' (आख) प्रयुक्त है। धूल, धूप और लप की दो-दो आंखें कुल छह आंखें हुई। ये छहो आखें कवि के पास हैं। यह सामान्य स्थिति नहीं है। सामान्य का विस्तार इसमें ध्वनित होता है। पुराणों मे त्रिनेत्र शिव और सहस्राक्ष इन्द्र है। त्रिनेत्र और सहस्राक्ष इनकी शक्ति के विस्तार के द्योतक हैं। शिव त्रिनेत्र से मदन को भस्मीभूत कर देते हैं और इन्द्र सहस्र आखो से श्रीसौन्दर्य तथा समृद्धि के स्रष्टा हैं। कवि इन अनेक आखों को, इन छहों आंखो से विभिन्न दृष्टिकोणों से देखते हैं। कवि चश्मा लगाते हैं। उनकी दृष्टि वर्तमान से अतीत तक प्रलम्ब खिंचती चली जाती है। कवि की यह विशिष्ट स्थिति महत्त्वपूर्ण तो है ही साथ ही महत्त्वपूर्ण है स्वय को छह आखो वाला बताना। उनके इस असामान्य विशेषण से कबीर-जैसी उलटबासी का द्योतन होता है। पर कवि इन सबको अस्वीकार करते हैं। वे न तो स्वय को जन्मान्ध सूरदार मानकर भगवान को विस्तार के लिए ललकारते हैं और न ही कबीर-जैसा बनने का उनका प्रयत्न है। वे स्पष्टत मानते हैं कि न वे साधु हैं और न सन्त। उनके पाठक भी इस आख्या के अधिकारी नहीं हैं।

इन तीन मूलभूत आयामों को संश्लिष्ट करके दो खण्डों— (क) धूल-धूप और (ख) लप (आख) मे काव्य-रचना का विषय बनाया गया है और पुनः इन्हें लघु अशो मे विभक्त कर मूलभाव को विस्तृत किया गया है। वैसे इन्हे हम मुक्त आसंग से उत्पन्न विभिन्न स्थितियों का चित्रण ही कह सकते है। इस दृष्टि से प्रथम अश है—प्रथि मे ऊपर उठी हुई कवि की दृष्टि का अपने शहर की धूल पर आ अटकना। धूल बहुत उड़ती है, धूप बहुत तीखी होने लगी है और विशेषकर उस शहर मे, जहा वे रहते हैं। वे धूलि-मिश्रित धूप को नग्न आखो से देखना पसंद करते हैं। धूप का चश्मा लगाने वाले व्यक्ति से उसे चिढ़ है। जबकि उन्हें भी धूप-चश्मा लगाने की विवशता है। धूलि-मिश्रित धूप को नग्न आंखो से देखने की कवि की इच्छा साभिप्राय है। यह गोधूलि सर्वविध अनुभूतियों से सम्पूर्ण होती

है। गोधूलि को श्रीकृष्ण बड़े प्यार से देखा करते थे। इससे ऋषियो को अपने शिष्यो तथा गायों के प्रत्यागमन की सूचना मिलती थी। उषा मे सौन्दर्य होता है, जिसका वर्णन वेदऋचाओं से समस्त लौकिक काव्य मे उपलब्ध है। किन्तु वह अनुभव-शून्य होती है।

दूसरा अश पूर्णत. समकालीन सदर्भ को प्रकट करता है। धूल दलित और शोषित की प्रतीक रही है। धूप की शोषकता स्वय सिद्ध है और आंखो मे तीक्ष्णता और अहं है। कवि को प्रथम दोनो का सघर्ष अच्छा लगता है। किन्तु, संघर्ष इन तीनो के बीच है, *जिसके द्वन्द्व और प्रतियोगिता में 'धूलप' का निर्माण संभव हो सका है।* इस सघर्ष मे लप (आख) अपने अभिजाततत्र के कारण सक्रिय भाग नही लेता। यही उसकी विवशता हो सकती है। पर, कवि स्वयं का इस संघर्ष से मुक्त नही रखते *या रखना चाहते। वास्तव मे इसी कारण वे चश्मा (बाह्य आडम्बर) नही लगाते।* चश्मा लगाते ही वस्तु का वास्तव रूप बदल जो जाता है! कवि की इस भावना का प्रकाशक शब्द 'धूलप' है। धूल, धूप और लप के इस पारस्परिक मिश्रण का प्रतीकार्थ इस भावना को स्पष्ट करता है। इस मिश्रण के दो अत्यन्त प्रमुख तत्त्व हैं—धूल और प्रकाश और ये दोनो यहा एकाकार हो गए हैं। इस एकाकार भाव मे फ्रायड, मार्क्स और अभिजाततत्र का सामजस्य एक ही मान बिन्दु पर हो गया है। वस्तुतः यह एक अत्यन्त दुर्लभ स्थिति यहां प्राप्त है।

आत्मा वै जायते :

प्रपद्य-सग्रह का यह अन्तिम प्रपद्य है। इसमे भी कवि का चित्रित अनुभव विचित्र है। वे प्रस्तुत तरुणी को सुन्दर नही मानते है, यद्यपि वह विश्व सुन्दरी की कसौटी पर खरी उतरने के लिए सर्वतोभावेन समर्थ है। इसका कारण इस बात मे सन्निहित है—

> उसका चेहरा मुझे उसके पिता की याद
> दिला देता है,
> जो एक खूबसूरत बुजुर्ग थे :
>
> मैं शकुन्तला मे कण्व का रूप,
> मेनका का ककाल नही,
> देखने लगता हू।

कवि को यह सुन्दरी इसलिए *सुन्दर नही लगती कि उसका चेहरा उसके* बूढ़े पिता की याद दिलाता है। युवती के तरुण सौंदर्य के साथ उसके पिता की वार्धक्य भावना मिलकर तरुणी की सुन्दरता को प्रतिहत कर देती है। कवि को कण्व का ही रूप याद क्यो हो जाता है? *मेनका की कनक यष्टि याद क्यो नही*

आती ? यह भी विचित्र बात है ! सम्भव है, कवि पितृग्रंथि से बधा हो। मूल कारण है कवि 'मूसा के मर जाने की घोषणा' करना चाहते हैं। यही उनका उद्देश्य है। इस प्रपद्य मे बुद्धि तत्त्व की प्रधानता प्रकट होती है। ऐसा निश्चित रूप से तो नही कहा जा सकता कि पुरुष बुद्धि-प्रधान और नारी भावना-प्रधान होते हैं। पर, यह बात सामान्यतया सत्य है। कवि का पितृसत्ता के प्रति यही आग्रह, प्रस्तुत प्रपद्य को बुद्धितत्त्व से जोड़ता है।

आचार्य नलिन जी के प्रपद्यो का अनुशीलन उनके युगान्तरकारी कवि व्यक्तित्व होने का निष्कर्ष देता है। उन्होने प्रपद्यवाद की महान् मान्यताओं को अपने प्रपद्यो के माध्यम से, सम्पूर्ण विशेषताओ के साथ, नियोजित किया है। उनके प्रपद्य पर ध्यान देते ही बरबस इलियट की उक्ति का स्मरण हो आता है—"द पोइट्स माइण्ड इज इनफैक्ट ए रेसेप्टकल फॉर सिजिग एण्ड स्टोरिंग अप नम्बरलेस फीलिंग्स, फेजेज एण्ड इमेजेज (कवि मानव वह पात्र है, जिसमे असंख्य भाव उक्तिया और चित्र गृहीत और संचित होते है और उसमे वे तब तक बने रहते हैं, जब तक ऐसे समस्त तत्त्व एक साथ ही एकत्रित नही हो जाते, जो मिलकर एक नवीन पदार्थ का निर्माण कर सकें।"[59]

नलिन जी ऐसे कवि है, जिनके सिद्धान्त उनकी कृतियो के बिना और कृतिया (काव्य) सिद्धान्त की पृष्ठभूमि से रहित, अपूर्ण रह जाती हैं। उनके अनुसार, "किसी भी ऐसे सिद्धात का कोई विशेष महत्त्व नही हो सकता जो उत्कृष्ट कविता के प्रत्यक्ष अनुभव पर अवलम्बित न हो।)"[60]

उनके प्रपद्य तथा उनके सिद्धान्त उक्त स्थापना के उदाहरण हैं। उनके प्रपद्य मे वक्रोक्ति, सूक्ष्म व्यंग्य, उदात्त गांभीर्य, भावना का मस्तिष्कीकरण और हार्दिकता का सन्तुलन और प्रतितुलन, असंगत स्थितियो को एक नई सगति मे देखने का बौद्धिक उपगम (Intellectual approach), अन्वित सवेदनशीलता आदि ये सभी गुण उनकी अन्दाज मनोहरण शैली मे सम्पृक्त होकर जिस नवात्पर सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं, उनसे अनुपमेय शब्द की सार्थकता सिद्ध होती है। यह सार्थकता, उन्हे युगप्रवर्तक कवि की अभिधा देती है।

सन्दर्भ

1. *आधुनिक हिन्दी कविता की प्रवृत्तियां : डॉ० नगेन्द्र, पृ० स० 114*
2. चक्रवाल : दिनकर, पृ० सं० 52
3. पूर्ववत्
4. नई कविता : सम्पादक, डॉ० जगदीश गुप्त, डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी, अंक-1, पृ० स० 3
5. हिन्दी साहित्यकोश, पृ० स० 483-84
6. Experiment and The Future of Novel, London Magazine, May 1956
7. English Literature And Ideas In The Twentieth Century Dr. H V Routh, Page-2
8. आधुनिक हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियां डॉ० नामवर सिंह, पृ० स० 128
9. प्रगतिवादोत्तर कविताएं और मानवतावाद . डॉ० दिवाकर, पृ० सं० 15-16
10. कविता, देखिए निबन्ध, समसामयिक हिन्दी साहित्य . शम्भुनाथ सिंह, पृ० स० 81-82
11. दूसरा सप्तक ' अज्ञेय
12. *नकेन के प्रपद्य पत्पशा केसरीकुमार, पृ० स० 131*
13. पूर्ववत्
14. पूर्ववत्
15. पूर्ववत्, पृ० स० 117-18
16. शब्दान्तर प्रो० निशान्तकेतु, पृ० स० 220
17. नकेन के प्रपद्य . पत्पशा . केसरीकुमार, पृ० स० *113*
18. फक्किका . 1/Verse Libre : Verse Libere ; भाष्य के लिए देखिए 'दृष्टिकोण' मासिक के प्रथम अंक का प्रथम निबन्ध
19. तुलना कीजिए—चरित्रशील और चरित्रवाद, प्रगतिशील और प्रगतिवाद
20. Verbi-Voco-Visual method
21. जैसे चित्रकार वर्ण-योजना का, मूर्तिकार प्रस्तर खंड का
22. Ditchen Condensare पद्य और लयात्मक सांगीतिक उपादानों के फल-स्वरूप उसमें अतिरिक्त पदों के बिना ही रागात्मक घनत्व सन्निविष्ट हो जाता है।
23. Mot Juste *Flaubert*
24. Ching-meng Confucious Pound

25. फॉर्मलिज्म : हिन्दी साहित्यकोश
26. साहित्य, जुलाई, 56
27. Experiment And The Future Of Novel · Philip Toynbee, London Magazine, May 1956
28. स्फोट हिन्दी साहित्यकोश
29. भारतीय प्रतीक विद्या डॉ० जनार्दन मिश्र, पृ० स० 1
30. नकेन के प्रपद्य : पसुपशा · केसरीकुमार, पृ० स० 129
31. पूर्वग्रह, भारत भवन, अंक 88-89-90, पृ० स० 43
32. पूर्ववत, पृ० सं० 61
33. नकेन के प्रपद्य : पसुपशा : केसरीकुमार, पृ० स० 135
34. पूर्ववत्
35. पूर्ववत्, पृ० स० 136
36. पूर्ववत्, पृ० सं० 138
37. काव्यानुशीलन · आधुनिक · अत्याधुनिक · डॉ० कुमार विमल (देखिए निबंध, नई कविता और प्रेषणीयता, पृ० स० 178)
38. नकेन के प्रपद्य पसुपशा केसरीकुमार, पृ० स० 144
39. पूर्ववत्, पृ० सं० 140-41
40. पूर्ववत्, पृ० सं० 145
41. नई धारा . वर्ष-6, अक 9
42. नकेन के प्रपद्य : पसुपशा : केसरीकुमार, पृ० स० 132
43. हिन्दी के प्रतिनिधि कथाकार : सम्पादक . नलिन विलोचन शर्मा (आत्मकथा : नलिन विलोचन शर्मा, पृ० स० 25-26)
44. हिन्दी साहित्यकोश, पृ० सं० 13
45. साहित्य : नलिन-स्मृति अंक (देखिए निबन्ध, युग प्रवर्तक कवि नलिन जी और उनका प्रपद्यवाद · प्रो० अनन्त चौधरी)
46. प्रगतिवादोत्तर कविता और मानवतावाद : डॉ० दिवाकर, पृ० सं० 48-49
47. कविता और हिन्दी कविता : नरेश (देखिए निबन्ध, काव्यानुशासन, पृ० स० 48)
48. नयी कविता : नयी आलोचना और कला · डॉ० कुमार विमल (देखिए निबन्ध, नयी कविता : उपलब्धियां और अभाव, पृ० सं० 22)
49. कविता और हिन्दी कविता : नरेश (देखिए निबन्ध, काव्य के स्रोत, पृ० सं० 21)
50 पूर्ववत्, पृ० सं० 25

51. कविता और हिन्दी कविता : नरेश (देखिए निबन्ध, कविता और हिन्दी आलोचना, पृ० स० 109)
52. नकेन के प्रपद्य : पद्मपशा : केसरी कुमार, पृ० सं० *138*
53. प्रपद्यवाद नई कविता का परिदृश्य : सुरेन्द्र प्रसाद यादव 'स्निग्ध', शोध प्रबन्ध, पटना विश्वविद्यालय, पृ० स० 18
54 New Bearing in English Poertry, page 228
55. नकेन के प्रपद्य : गीति-दर्शन · प्रपद्य का प्रारूप (नलिन विलोचन शर्मा का प्रपद्य, पृ० स० *17-18*)
56. प्रपद्यवाद · नई कविता का परिदृश्य · सुरेन्द्र प्रसाद यादव 'स्निग्ध', शोध प्रबन्ध, पटना विश्वविद्यालय
57. बिब्बोक स्वभावज अलंकार; हिन्दी साहित्य कोश, पृ० स० 955
58 शून्य हिन्दी साहित्यकोश
59. अवंतिका, जनवरी 1954 ई० (देखिए निबन्ध, इलियट की आलोचना-प्रणाली · नलिन विलोचन शर्मा)
60 तर्कना ।